मजदूर वर्ग के क्रांतिकारी विचारों व स्वरों का मंच

यथार्थ

जनवरी-फरवरी-मार्च 2025 (संयुक्तांक) | सहयोग राशि ₹ 30

तस्वीर : "8 मार्च : संघर्ष और एकता का झंडा उठाने वाली पहली अंतर्राष्ट्रीयवादी महिलाएं अमर रहें!"
~ अंतर्राष्ट्रीय महिला दिवस के लिए सोवियत पोस्टर, 1969

आर्थिक सहयोग की अपील

'यथार्थ' के मुद्रण एवं प्रकाशन को निरंतर व सुचारु रूप से जारी रखने हेतु आपका सहृदयतापूर्ण उदार सहयोग अतिआवश्यक है जिसके लिए हम आप सभी शुभचिंतकों एवं साथियों से आग्रह कर रहे हैं। यह सहयोग दो रूपों में किया जा सकता है :

1) एक आरंभिक कोष का निर्माण करने में, जो पत्रिका को नियमित रूप से प्रकाशित करने में मदद करेगा। हम इसके लिए आप सभी से उदारतापूर्वक अधिकाधिक योगदान का अनुरोध करते हैं।

2) नियमित सदस्य बन कर और बनाने में मदद कर के, जिसके लिए वार्षिक शुल्क 350 रुपये और आजीवन शुल्क 5,000 रुपये है।

आर्थिक योगदान इन माध्यमों से किया जा सकता है :

Vidushi Prajapati
9598367286

- **UPI:** नंबर - 9598367286, अथवा
  आईडी - 9598367286@ptaxis (किसी भी ऐप से) अथवा
  प्रस्तुत QR कोड को स्कैन करें
- बैंक ट्रांसफर : खाता न. - 0758100100004701 (PNB)
  IFSC कोड - PUNB0075810
  नाम - VIDUSHI PRAJAPATI

कृपया योगदान भेजने के पश्चात व्हाट्सऐप नंबर 9 5 8 2 2 6 5 7 1 1, ईमेल आईडी yatharth.edboard@gmail.com या फिर yatharthmag.com/contact के जरिये सूचित करें। सूचना में ये चीजें सम्मिलित करें :

नाम | पूरा पता | मोबाइल नं | ईमेल | राशि | मद (सहयोग/वार्षिक/आजीवन शुल्क) | भेजने की तारीख अथवा स्क्रीनशॉट

'यथार्थ' का संवाददाता बनने की अपील

कई साथियों ने पूछा है कि वे 'यथार्थ' के काम में क्या मदद कर सकते हैं। उन सभी साथियों से हमारी अपील है कि वे 'यथार्थ' के लिए लेखक व संवाददाता के रूप में मदद करें और मजदूर वर्ग तथा व्यापक मेहनतकश व उत्पीड़ित जनता के जीवन की स्थितियों के विभिन्न पक्षों, उनके शोषण-उत्पीड़न तथा इसके खिलाफ होने वाले संघर्षों से संबंधित लेख, रिपोर्ट, चित्र, कविताएं आदि हमें ईमेल अथवा व्हाट्सऐप (पृष्ठ 3 पर उपलब्ध) के जरिए भेजें। यह 'यथार्थ' के लिए बड़ी मदद होगी।

संपादक मंडल

यथार्थ

वर्ष 5 | अंक 9-11 जनवरी-मार्च 2025 (संयुक्तांक) सहयोग राशि ₹ 30

'यथार्थ' क्या है?

'यथार्थ' सत्य को निरूपित करने हेतु एक प्रतिबद्ध माध्यम एवं आम अवाम सहित मजदूर वर्ग के ऐतिहासिक हितों को समर्पित एक प्रयास है। हालांकि, बहस और आलोचना की आजादी ही सत्य को सामने लाने के एकमात्र हथियार और आवश्यक शर्तें हैं। इसलिए 'यथार्थ' का लक्ष्य कोई अभेद्य किला बनाने का नहीं, अपितु एक ऐसा मंच बनाने का है जहां मजदूर आंदोलन के सभी सुयोग्य हिस्सों तथा व्यक्तियों को वर्तमान ठोस परिस्थितियों के ठोस मूल्यांकन के मद्देनजर मजदूर वर्ग के कार्यभार और इसके लिए सर्वोचित रणनीति एवं कार्यनीति बनाने हेतु खुलकर अपनी बात रखने का मौका प्राप्त हो सके।

हमें उम्मीद ही नहीं, बल्कि पूरा भरोसा है कि आप तमाम लोगों का साथ व सहयोग प्राप्त होगा, जिसके बिना इस प्रयास का सार्थक होना असंभव है। आप निस्संकोच अपना बहुमूल्य फीडबैक, सुझाव, योगदान, 'संपादक को पत्र' के रूप में अपने विचार व लेख तथा आलोचना नीचे प्रस्तुत माध्यमों से भेजें।

संपादक मंडल

अजय सिन्हा मुकेश असीम
प्रसाद वी सिद्धांत राज कन्हाई बरनवाल

मुख्य संपादकीय कार्यालय

सी/ओ कन्हाई बरनवाल
महासचिव, आईएफटीयू (सर्वहारा)
केंद्रीय कार्यालय, हरिपुर
पश्चिम बर्धमान, पश्चिम बंगाल - 713378
मो. 9434577334

मुद्रक : मारुति ऑफसेट, बंगाली अखाड़ा, डी एन दास लेन, पटना, बिहार - 800004

मुद्रित प्रति के लिए इन नबरों पर संपर्क करे

8337021678 9582265711

अन्य संपर्क :

yatharthmag.com t.me/yatharthmag
fb.com/TTYmags yatharth.edboard@gmail.com

इस अंक में

संपादकीय • *बजट 2025 / फ्रीबीज सिर्फ पूंजीपतियों को ही, गरीब इससे मुफ्तखोर बनते हैं! - फासीवादी दौर का 'वेलफेयर मॉडल'* 5

आर्थिक • *नई आर्थिक नीतियों के बारे में एक बार फिर से* 12

आधार पत्र • *फासीवादी दौर में महिलाओं पर बढ़ता उत्पीड़न और महिला मुक्ति का प्रश्न* 18

• *बिहार में बड़ी पूंजी (कॉर्पोरेट) के हक में आनन-फानन में किये जा रहे भूमि सर्वेक्षण पर रोक लगाओ* 47

रिपोर्ट • *अंतर्राष्ट्रीय महिला दिवस पर परिचर्चा* 44

• *शहीद कॉमरेड सुनील पाल की 15वीं शहादत वर्षगांठ पर पश्चिम बंगाल में शहीद रैली व जन सभा और केन्द्रीय कन्वेंशन* 60

पर्चा • *मारुति अस्थायी मजदूरों के शांतिपूर्ण प्रदर्शन पर दमन के खिलाफ कड़ा प्रतिवाद दर्ज करें!* 53

• *दिल्ली विधान सभा चुनाव 2025* 55

कविता • *'कचोटती स्वतंत्रता' / नाजिम हिकमत* 4

मजदूर वर्ग के क्रांतिकारी विचारों व स्वरों का मंच

यथार्थ

एकमात्र निजी वितरण हेतु

नाजिम हिकमत

क्रांतिकारी तुर्की कवि के 123वें जन्मदिवस पर उनकी कविता

"कचोटती स्वतंत्रता"

15 जनवरी 1902 - 3 जून 1963

तुम खर्च करते हो अपनी आँखों का शऊर,
अपने हाथों की जगमगाती मेहनत,
और गूँधते हो आटा दर्जनों रोटियों के लिए काफ़ी
मगर ख़ुद एक भी कौर नहीं चख पाते,
तुम स्वतन्त्र हो दूसरों के वास्ते खटने के लिए
अमीरों को और अमीर बनाने के लिए
तुम स्वतन्त्र हो ।

जन्म लेते ही तुम्हारे चारों ओर
वे गाड़ देते हैं झूठ कातने वाली तकलियाँ
जो जीवनभर के लिए लपेट देती हैं
तुम्हें झूठ के जाल में ।
अपनी महान स्वतन्त्रता के साथ
सिर पर हाथ धरे सोचते हो तुम
ज़मीर की आज़ादी के लिए तुम स्वतन्त्र हो ।
तुम्हारा सिर झुका हुआ मानो आधा कटा हो गर्दन से,
लुंज-पुंज लटकती हैं बाँहें,
यहाँ-वहाँ भटकते हो तुम
अपनी महान स्वतन्त्रता में,
बेरोज़गार रहने की आज़ादी के साथ
तुम स्वतन्त्र हो ।

तुम प्यार करते हो देश को
सबसे क़रीबी, सबसे क़ीमती चीज़ के समान ।
लेकिन एक दिन, वे उसे बेच देंगे,
उदाहरण के लिए अमेरिका को
साथ में तुम्हें भी, तुम्हारी महान आज़ादी समेत
सैनिक अड्डा बन जाने के लिए तुम स्वतन्त्र हो ।
तुम दावा कर सकते हो कि तुम नहीं हो
महज़ एक औज़ार, एक संख्या या एक कड़ी
बल्कि एक जीता-जागते इन्सान
वे फौरन हथकड़ियाँ जड़ देंगे
तुम्हारी कलाइयों पर ।
गिरफ़्तार होने, जेल जाने
या फिर फाँसी चढ़ जाने के लिए
तुम स्वतन्त्र हो ।

नहीं है तुम्हारे जीवन में लोहे, काठ
या टाट का भी परदा,
स्वतन्त्रता का वरण करने की कोई ज़रूरत नहीं :
तुम तो हो ही स्वतन्त्र ।
मगर तारों की छाँह के नीचे
इस क़िस्म की स्वतन्त्रता कचोटती है । □

संपादकीय

बजट व अन्य आर्थिक नीतियां

'फ्रीबीज-रेवड़ियां' सिर्फ पूंजीपतियों-अमीरों को ही, गरीब इससे मुफ्तखोर बनते हैं! - फासीवादी दौर का 'वेलफेयर' मॉडल

सुप्रीम कोर्ट ने एक बार फिर चुनावों के पहले मुफ्त चीजें या फ्रीबीज देने के राजनीतिक दलों के वादे पर नाराजगी जताई और कहा कि लोग काम नहीं करना चाहते, क्योंकि आप उन्हें फ्री राशन दे रहे हैं, बिना कुछ किए पैसे दे रहे हैं। क्या हम परजीवियों का वर्ग नहीं बना रहे हैं। बेहतर होगा कि इन्हें समाज की मुख्यधारा का हिस्सा बनाकर राष्ट्रीय विकास में योगदान दिया जाए। इन्हें परजीवी न बनायें। जस्टिस बी आर गवई और जस्टिस ऑगस्टीन जॉर्ड मसीह की बेंच दिल्ली में शहरी बेघरों को आसरा दिए जाने की याचिका सुन रही थी। कोर्ट ने कहा कि दुर्भाग्यवश, चुनाव से ठीक पहले इन मुफ्त की योजनाओं- जैसे 'लाडकी बहिन' और ऐसी अन्य योजनाओं के कारण लोग काम करने को तैयार नहीं हैं। जब याचिकाकर्ताओं में से एक के वकील ने कहा कि अगर काम हो तो शायद ही कोई ऐसा होगा जो न करना चाहे। इस पर जस्टिस गवई ने कहा कि आपको एकतरफा जानकारी है, मैं भी किसान परिवार से हूं। महाराष्ट्र में चुनाव से पहले घोषित मुफ्त सुविधाओं के कारण, किसानों को मजदूर नहीं मिल रहे हैं।

दरअसल सुप्रीम कोर्ट कह रहा है कि फ्रीबीज और 'रेवडियों' का हक सिर्फ अमीरों-सरमायेदारों को है, गरीबों को सामाजिक व्यवस्था के तहत कुछ भी दिया गया तो वो अमीरों की खिदमत बंद कर देंगे। चुनाव आयोग पहले ही इसे चुनावी भ्रष्टाचार बता चुका है। कॉर्पोरेट मीडिया भी जोर जोर से यही कह रहा है। बडे बडे अर्थशास्त्री एवं विद्वान ऐसा ही कह रहे हैं। पूंजीपतियों की संस्थाएं व थिंक टैंक ऐसा ही कहते आ रहे हैं। प्रधानमंत्री नरेंद्र मोदी 'रेवड़ियां बांटने' की राजनीति के खिलाफ बोल ही चुके हैं। उनके एक मंत्री प्रहलाद पटेल ने तो सरकार से सुविधाएं मांगने के लिए जनता को भिखमंगा ही बता दिया है। मोदी सरकार 'वन नेशन वन इलेक्शन' के जरिए मुख्य काम तो यही करना चाहती है कि जनता की 'सेवा का मौका' मांगने के वास्ते उनके कल्याण के लिए कुछ वादे करने के लिए बार बार चुनावी प्रचार में जाने की मजबूरी ही खत्म हो जाए।

बड़े कॉर्पोरेट हाउस L&T के चेयरमैन का कहना है कि मजदूरों को परिवार के साथ वक्त बिताने के बजाय सप्ताह में 90 घंटे काम कर राष्ट्र निर्माण करना चाहिए। उनके मुताबिक उनको काम करने के लिए लेबर नहीं मिलते हैं, क्योंकि सरकारी वेलफेयर स्कीम और आर्थिक मदद मिलने की वजह से लोग काम नहीं करना चाहते। उनकी शिकायत है कि सरकार मुफ़्त अनाज दे रही है। दरअसल बात यह कि इन सबके आका पूंजीपति गरीबों मेहनतकशों वंचितों पर एक पैसे का खर्च भी बर्दाश्त करने को राजी नहीं हैं। उनके लिए कोई आंशिक राहत की भी स्कीम हो तो उन्हें लगता है तब वो मामूली जिंदा रहने वाली मजदूरी पर हफ्ते में 90 घंटे काम क्यों करेंगे, जबकि मजदूर वर्ग से 90 घंटे काम करा सुपर प्रॉफिट की ललक भारतीय पूंजीपति वर्ग के दिमाग में घर कर चुकी है।

यहां सवाल उठाया जा सकता है कि दूसरे दलों पर 'मुफ्तखोरी' को बढ़ावा देने का इल्जाम लगाने वाले नरेंद्र मोदी भी to जनता से खूब चुनावी वादे करते हैं। दिल्ली चुनाव में ही ऐसी 'मुफ्तखोरी' वाले उनके वायदों की फेहरिस्त काफी लंबी है - हर महिला के खाते में 2500 रुपये, 500 रुपये में गैस सिलिंडर, फ्री बिजली, फ्री पानी, फ्री इलाज, फ्री शिक्षा, सरकारी अस्पतालों एवं मोहल्ला क्लिनिकों में फ्री इलाज व दवाई, बुजुर्गों के लिए फ्री तीर्थ-यात्रा और महिलाओं के लिए सरकारी बसों में फ्री यात्रा, आदि को जारी रखना, वगैरह। गरीबों के लिए प्रधानमंत्री आवास योजना की बात तो वो पहले से करते आ ही रहे हैं। एक और 'मुफ्तखोरी' का विरोध, दूसरी और, ऐसे वादों की इस लंबी सूची में प्रतीत होते अंतर्विरोध की इस सियासत को भी समझना जरूरी है।

अमीरों को फ्रीबीज पर कोई एतराज नहीं

1 फरवरी को आगामी वित्तीय वर्ष हेतु पेश किए गए बजट को देखें तो कुछ

उल्टा ही दृश्य नजर आता है। पर पहले सरकारी वित्तीय नीतियों को सही ठहराते एवं उनके पीछे की मजबूरी बताते हुए प्रधानमंत्री की आर्थिक सलाहकार परिषद के सदस्य नीलकंठ मिश्रा की नवभारत टाइम्स में 3 फरवरी को प्रकाशित बात देखें - 'इस बार के बजट की बात करें तो वित्तीय अनुशासन के दबाव की वजह से वित्त मंत्री निर्मला सीतारमण के पास बहुत कुछ करने की गुंजाइश नहीं दिख रही थी।' 'इंफ्रास्ट्रक्चर में बहुत ही अच्छा निवेश हुआ है, लेकिन हो सकता कि आगे यह स्थिति बदल जाए। वित्त वर्ष 2025 में इसके संकेत तब मिले जब सरकार के पास खर्च करने के अवसरों की कमी हो गई। … यह पैसा नेशनल हाईवेज, रेलवे, रक्षा, दूरसंचार, हवाई अड्डों और बंदरगाहों पर ही खर्च किया जा सकता है। … इसलिए सरकार के पास कैपिटल खर्च के बहुत ठिकाने नहीं बचे हैं।' एवं 'बजट के हिसाब किताब के मुताबिक़, सरकार के पास सिर्फ़ 1 लाख करोड़ रुपए को मनचाही चीजों पर खर्च करने का विकल्प था और उसने इसका इस्तेमाल 12 लाख की आमदनी पर टैक्स छूट देने के लिए किया।'

आयकर में इस छूट से 12 लाख रुपए आमदनी तक वालों को जो 5 से 15% टैक्स देना पड़ता था वह बिल्कुल समाप्त कर दिया गया है। 30% की आयकर दर अब 24 लाख रुपये सालाना की आय के ऊपर लागू होगी। अर्थात 24 लाख रुपए और अधिक आय वालों को टैक्स में लगभग 1 लाख 10 हज़ार रुपये की छूट दी गई है। ऐसे कई प्रावधान पहले ही हैं जिनका लाभ लेकर लगभग 15 लाख रुपये सालाना आय वालों को अब कोई आयकर नहीं देना होगा अर्थात 60 हज़ार रुपये महीना से सवा लाख रुपये महीना तक की आय वालों को पूरा आयकर माफ और अधिक आय वालों को भारी छूट। वर्ल्ड इनइक्वलिटी डेटाबेस के अनुसार भारत में 66,141 रू से अधिक महीना आय वाले आबादी के शीर्ष 10% में आते हैं। इस आय वर्ग वाले ही ख़ुद को मध्य वर्ग कहते हैं पर भारतीय समाज में यह 'मध्य वर्ग' आय के मामले में देश के शीर्ष 10% में आता है। आयकर छूट का लाभ इस 10% आबादी को ही होगा।

नीलकंठ मिश्रा की बात पर गौर करें तो तीन बातें तुरंत समझ आती हैं जो इस लेख का केंद्रीय विषय हैं। एक, सरकार की राजकोषीय स्थिति इतनी तंग है कि जनता के किसी हिस्से को कोई छूट रियायत देने के लिए उसे अपने निवेश कार्यक्रम में कटौती करना विवशता बन गई है। दो, सरकारी खर्च सिर्फ हाइवे, हवाई अड्डा, बंदरगाह, रक्षा, आदि पर ही किया जाना है, शिक्षा, स्वास्थ्य, यातायात, खाद्य सुरक्षा, आदि की सार्वजनिक व्यवस्था सरकार के लिए उपयुक्त खर्च नहीं है। और इन मदों पर खर्च करने की गुंजाइश भी नहीं बची है। तीन, कर राहत के लिए इस सरकार ने शीर्ष 10% आय वालों को चुना है, न कि औसतन 10-12 हज़ार महीना या कम कमाने वाली बहुसंख्यक मजदूर मेहनतकश आबादी को जिन पर लागू 5% या 12% या 18% या इसके ऊपर की जीएसटी दरें वसूली जाती रहेंगी। उन्हें राहत देने की कोई बात सरकारी योजनाओं में नहीं है।

'सूट-बूट वाले भारत' के लिए यह एक सपनों का बजट है। अब तक भारत की औसत प्रति व्यक्ति आय से 3 गुना आय 5% आयकर देना होता था। अब औसत प्रति व्यक्ति आय से 6 गुना तक कमाने वाले कोई आयकर नहीं देंगे। अर्थात नई कर व्यवस्था में औसत प्रति व्यक्ति आय से 6 गुना आय अर्जित करने वाला व्यक्ति भी कर देने के लिए पर्याप्त समृद्ध नहीं माना गया है। किंतु औसत प्रति व्यक्ति आय से आधा या कम आय वाले अप्रत्यक्ष कर देने के लिए योग्य माने गए हैं। आयकर में बदलावों से 1 लाख करोड़ रुपये राजस्व कम होगा। आगामी वित्त वर्ष में कुल व्यय वित्त वर्ष 2025 के संशोधित अनुमान से 3.4 लाख करोड़ रुपये ही अधिक होने का अनुमान है। कर कटौती नहीं होती, तो व्यय 4.4 लाख करोड़ रुपये होता। इस प्रकार, सकल घरेलू उत्पाद के प्रतिशत के रूप में व्यय में कमी के अलावा, वित्त वर्ष 2026 में कुल व्यय आयकर कटौती के बिना की तुलना में 30% कम है। अर्थव्यवस्था कई साल से निजी पूंजी निवेश में कमी व उपभोक्ता खर्च के न बढ़ने से आर्थिक वृद्धि के लिए मुख्यतः सरकारी खर्च व निवेश पर ही निर्भर है। अतः व्यय में यह कमी गहराते आर्थिक संकट का संकेत है। पूंजीवादी दृष्टिकोण से भी यह वृद्धि नहीं, ठहराव का संकेत है।

नितिन गडकरी के यातायात मंत्रालय के विचाराधीन नई टोल नीति का उदाहरण लेते हैं। 4 फरवरी को नवभारत टाइम्स में प्रकाशित बयान मुताबिक नेशनल हाईवेज पर ट्रैफिक में प्राइवेट कारों की हिस्सेदारी 60% है। लेकिन टोल रेवन्यू में इनका हिस्सा 20-26% ही है। पिछले दस साल में ज्यादा जगहों पर टोल कलेक्शन शुरू होने से इन पर भार बढ़ गया है क्योंकि कुल टोल कलेक्शन 2023-24 में 64,809.86 करोड़ रुपये पहुंच गया। 2019-20 में यह 27,503 करोड़ रुपये था। मंत्रीजी कहते हैं कि इससे यात्रियों में असंतोष बढ़ता है।

अतः नेशनल हाईवे अथॉरिटी ऑफ़ इंडिया (NHAI) सड़कों पर टोल से राहत देने की नीति बना रहा है। 6 फरवरी की नवभारत टाइम्स की रिपोर्ट मुताबिक 'सूत्रों ने बताया कि सालाना टोल पास 3 हजार रुपये में और 15 साल के लिए लाइफटाइम टोल पास 30 हज़ार रुपये में बनाने का प्रस्ताव है। यह रियायत निजी कार मालिकों के लिए ही होगी, बसों जैसे यात्री वाहनों व मालवाहक वाहनों को नहीं।

हाइवे पर यातायात का दो तिहाई बोझ प्राइवेट कार वाले कुल टोल का मात्र एक चौथाई ही चुका रहे हैं। तीन चौथाई टोल वसूली बसों व मालवाहक वाहनों से होती है जिसका बोझ गरीब व निम्न मध्यवर्गीय जनता पर पड़ता है - अधिक बस भाड़े और आवश्यक वस्तुओं की ऊंची कीमतों के रूप में। लेकिन सरकार की चिंता का विषय आम जनता पर टोल का बोझ घटाने के बजाय 10-20 लाख रुपए या अधिक कीमत की प्राइवेट कारों को राहत देना है। इस रियायत का बोझ भी टोल में वृद्धि के द्वारा गरीब मेहनतकश लोगों पर ही पड़ेगा क्योंकि टोल वसूलने वाले कॉर्पोरेट और उन्हें फाइनेंस करने वाली वित्तीय पूंजी को सरकार ने एक न्यूनतम दर या उससे अधिक मुनाफे की गारंटी की हुई है। 7 सितंबर 2024 को 'आज तक' पर बताया गया कि दिल्ली जयपुर मार्ग निर्माण पर 1,896 करोड़ रुपए लागत आई लेकिन 2023 तक उस पर 8,349 करोड़ रुपए टोल वसूला जा चुका था। यह वसूली अभी भी जारी है। जाहिर है कि विराट खर्च से बनाई जा रही टोल सड़कें व अन्य इंफ्रास्ट्रक्चर गरीब मेहनतकश जनता से वसूली कर अमीरों की सुविधा व कॉर्पोरेट वित्तीय पूंजी के सुपर प्रॉफिट का जरिया बन चुकी हैं। फिर भी सरकार चिंतित है कि प्राइवेट कार चलाने वाले संपन्न तबके में असंतोष न हो!

अन्य इंफ्रास्ट्रक्चर प्रोजेक्ट्स को भी देखें। नया शिगूफा दिल्ली से जयपुर 30 मिनट में पहुंचाने वाले हाइपरलूप का है। एक ओर साधारण गाड़ियाँ तक चलाना रेलवे के लिए मुश्किल है, तब हाइपरलूप का सपना किसलिए दिखाया जा रहा है? 2019 में चलने वाली बुलेट ट्रेन अब कोशिश है कि 2027 में किसी तरह गुजरात के एक हिस्से में एक थोडी तेज रफ्तार की गाडी चलाकर प्रचार का समां बांध लिया जाए। ओरिजनल बुलेट ट्रेन 2033 तक चलने की बात हो रही है। उधर दूरदराज की तो बात ही क्या, राजधानी दिल्ली से हर ओर गाडियों में भीड की मारामारी है। ऐसे में हमें मौजूदा पूंजीवादी आर्थिक संकट के दौर में महंगे इंफ्रास्ट्रक्चर प्रोजेक्ट्स की भूमिका को समझना होगा।

जितने खर्च में दिल्ली-मेरठ के बीच मौजूद डबल रेल ट्रैक पर हजारों यात्रियों की क्षमता वाली 12 डिब्बे की नियमित ईएमयू सेवा चलाई जा सकती थीं, उससे कई गुना खर्च में बहुत कम क्षमता वाली नमो आरआरटीएस बनाई जा रही है। इसका भाडा ईएमयू से 8-10 गुना महंगा है। मेरठ दिल्ली के रोजाना मुसाफिरों की बडी तादाद इसमें सफर नहीं कर सकती। वो इस 'क्रांतिकारी' इंफ्रास्ट्रक्चर के बजाय पुराने तकलीफदेह भारी भीड भरे धीमे रेल सडक साधनों का इस्तेमाल करने को विवश हैं। सिर्फ अमीरों की अल्पसंख्या के लिए सुविधा वाली यह 'क्रांतिकारी' आरआरटीएस भारी घाटे में रहने वाली है। पर इसे मुसाफिर मिलें या नहीं, इस में पूंजी निवेश पर ऊंचे न्यूनतम मुनाफे की गारंटी सरकार ने दी है। अर्थात पूंजीपतियों को लाभ पहुंचाने के लिए सरकार जनता पर अप्रत्यक्ष करों व शुल्कों का बोझ बढाएगी तथा शिक्षा स्वास्थ्य यातायात सफाई वगैरह की सार्वजनिक सुविधाओं पर खर्च को और कम कर देगी।

बजट में सार्वजनिक व्यवस्थाओं में कटौती अमीरों के इंफ्रास्ट्रक्चर पर खर्च का नतीजा है

राष्ट्रीय सामाजिक सहायता कार्यक्रम (NSAP) - सामाजिक सुरक्षा योजना जो बीपीएल श्रेणी में बुजुर्गों, विधवाओं और विकलांग व्यक्तियों सहित सबसे हाशिए पर रहने वाली आबादी को पेंशन प्रदान करती है - के लिए बजट पिछले वर्ष से अपरिवर्तित अर्थात् 9,652 करोड़ रुपये ही रहा है। इस प्रकार वास्तविक बजट घटकर लगभग 9,200 करोड़ रुपये रह गया है जबकि मुद्रास्फीति के चलते खर्च को उसी स्तर पर बनाये रखने हेतु व्यय को बढ़ाकर 10,000 करोड़ रुपये से अधिक किया जाना चाहिए था। दरअसल कुल बजट व्यय के हिस्से के रूप में NSAP के लिए आवंटन वित्त वर्ष 2014-15 में 0.58% से घटकर वित्त वर्ष 2025-26 में 0.19% रह गया है। बजट में सार्वजनिक सुविधाओं पर खर्च में चहूँ ओर कटौती की बात को तो फिर भी बहुतों ने नोट किया है। पर बजट में जिस खर्च का ऐलान किया जाता है वह भी वास्तव में किया नहीं जाता। वित्त वर्ष 2025 में प्रधानमंत्री नाम की 25 कल्याण योजनाओं के लिए बजट अनुमानों में 445,713 करोड़ रुपए आबंटन किया गया था। लेकिन 1 फरवरी को पेश संशोधित बजट अनुमानों में इसे 392,710 करोड़ ही कर दिया गया। इसमें से भी असल खर्च कितना होगा?

अमीरों के लिए इंफ्रास्ट्रक्चर की नीति की वजह है कि पूंजीवाद ने जो गहरा आर्थिक संकट पैदा किया है उसके चलते उसके उत्पादों की बिक्री के लिए बाजार में सामान्य तौर पर मांग पैदा नहीं हो रही है। अतः पूंजीपति वर्ग की मैनेजमेंट कमेटी बतौर सरकार बिना जनता की ओर से किसी मांग के ही इंफ्रास्ट्रक्चर प्रोजेक्ट्स व सैन्यवाद के जरिए कृत्रिम मांग तैयार कर रही है और फिर इस मांग के जरिए कुछ मोनोपॉली कॉर्पोरेट पूंजीपतियों के लिए मांग व मुनाफा सुनिश्चित कर रही है। सामान्य पूंजीवादी तरीके से सुपर मुनाफा पाने में अडचन की वजह से पूंजीपतियों ने यह 'असाधारण' रास्ता चुना है।

आम जनता से भारी टैक्स व शुल्क वसूली तथा कल्याणकारी खर्च में हरचंद कटौती से पैसा जुटाकर अल्पसंख्यक अमीरों की सुविधा के लिए जो तमाम इंफ्रास्ट्रक्चर प्रोजेक्ट्स बनाए जा रहे हैं, उनसे ही देश की छोटी अमीर-संपन्न आबादी के लिए चमकदार सुविधाएं जुटाई जा रही हैं। यह अमीर 'मध्य' वर्ग भी मौजूदा फासीवादी सत्ता व नीति के पीछे पूरी तत्परता से खडा है। यह तथाकथित 'मध्य' वर्ग ही मीडिया व शिक्षा संस्थानों से लेकर आरडब्ल्यूए वगैरह तक सबसे बडबोली व प्रभुत्वशाली ओपिनियन मेकर भूमिका में है और इसकी इस प्रतिबद्धता का प्रभाव हर जगह साफ देखा जा सकता है।

2016 पश्चात हर बजट की तरह इस बजट की मुख्य विशेषता है राजकोषीय घाटे की स्थिति। अतः खर्च घटा दिया गया है। कुल व्यय-जीडीपी अनुपात जो सरकारी खर्च या गतिविधि को मापता है - वित्त वर्ष 2022 में 16.03% से घटकर वित्त वर्ष 2024 में 15.04% और वित्त वर्ष 2026 (बजट प्रस्ताव) में 14.19% हो गया। कॉर्पोरेट टैक्स में दी गई बड़ी छूट के बाद से कर-जीडीपी अनुपात लगभग 7.9% पर स्थिर है। अब आयकर में भी छूट दी गई है। इसलिए, व्यय में कटौती से ही सरकार राजकोषीय घाटे को कम रखने हेतु विवश है। यह राजकोषीय अंकगणित एक ऐसी सरकार को उजागर करता है जो राजकोषीय घाटे को सीमित रखते हुए अपने बुनियादी कार्यों के वित्तपोषण के लिए संघर्ष कर रही है। सार्वजनिक निवेश बढ़ाने या गरीबों के हित में खर्च करने की तो बात ही बहुत दूर है, राजस्व व्यय तक वित्त वर्ष 2023 में सकल घरेलू उत्पाद के 12.81% से घटकर वित्त वर्ष 2026 (बजट प्रस्ताव) में 11.01% रह गया है। वित्त वर्ष 2025 के बजट अनुमानों की तुलना में लगभग 1 लाख करोड़ रुपये का पूंजीगत व्यय भी कम किया गया है।

शिक्षा और ग्रामीण विकास पर व्यय स्थिर है - लगभग 1.2 लाख करोड़ रुपये तथा 2.5 लाख करोड़ रुपये। इन दोनों क्षेत्रों में से किसी एक या दोनों के लिए अमीरों को आयकर में दी गई 1 लाख करोड़ रुपये की छूट खर्च करने से आम आदमी को कुछ राहत देना मुमकिन होता। इसके बजाय शीर्ष 10% अमीर लोगों को आयकर छूट दी गई है, और $40,000 से अधिक की लागत वाली नौकाओं और कारों पर कम आयात शुल्क के रूप में सुपर-रिच तबके के लिए मुफ्त टॉप-अप भी है। कुल व्यय में पूंजीगत व्यय का हिस्सा जीडीपी के अनुपात के रूप में वित्त वर्ष 2024 में 3.21% से गिरकर वित्त वर्ष 2026 में 3.14% हो गया है। यह सरकार की एक बड़े सार्वजनिक निवेश कार्यक्रम को क्रियान्वित करने की सीमित क्षमता को दर्शाता है, जिसे पिछले साल तत्कालीन वित्त सचिव टी वी सोमनाथन ने खुलकर स्वीकार किया था। वित्त वर्ष 2026 के लिए आशावादी कर उछाल का अनुमान लगाया गया है। लेकिन लगभग 25% आयकर रिटर्न दाखिल करने वाले सालाना 6-10 लाख रुपये की आय ही रिपोर्ट करते हैं। नई व्यवस्था में वे करदाता नहीं रहेंगे। वित्त मंत्रालय ने अतीत में भी टैक्स रियायतों से रेवेन्यू लॉस को कम करके दिखाया है। 2019 में कॉर्पोरेट टैक्स कटौती के वक्त रेवेन्यू लॉस का अनुमान 1 लाख करोड़ रुपये था। अब अनुमान है कि वास्तविक रेवेन्यू लॉस 3 लाख करोड़ रुपये हुआ। आयकर कटौती से रेवेन्यू लॉस का थोड़ा सा भी कम आकलन राजकोषीय गणित को गड़बड़ा देगा। इसका पूरा बोझ सार्वजनिक कल्याण योजनाओं में कटौती के रूप में आम मेहनतकश लोगों पर ही डाला जाएगा।

दरअसल जिन 'फ्रीबीज' पर सुप्रीम कोर्ट रो रहा है, उन योजनाओं पर जीडीपी का सिर्फ 1.5% खर्च होता है (दैनिक भास्कर)। जो आंकड़े छिपाये गये हैं वो ये कि सरकार कॉरपोरेट टैक्स पर जीडीपी का कितना प्रतिशत छूट देती है। अगर भारत का बजट कुल पचास लाख करोड़ का है और कॉरपोरेट टैक्स और ऋण माफ़ी पिछले दो सालों में 21 लाख करोड़ है, तो बजट का कितना प्रतिशत हुआ, इसे समझने के लिए आइंस्टीन होने की ज़रूरत नहीं है। दूसरी तरफ़, हरेक बजट में केपेक्स यानि पूंजीगत खर्च घट रहा है। पब्लिक स्पेंडिंग नदारद है। नतीजा ये कि पिछले दस सालों में नए सरकारी प्रतिष्ठान नहीं बने। जब सरकारी प्रतिष्ठान ही नहीं तो सरकारी नौकरी भी नहीं।

उपरोक्त राजकोषीय गणित का

अनिवार्य परिणाम है कि सरकार को पुराने सीमित कल्याणकारी मॉडल को चलाने की कोई गुंजाइश नहीं है। लेकिन सरकार मध्य वर्ग व अमीरों पर बोझ बढ़ाने की स्थिति में भी नहीं है। आयकर के बढ़ते बोझ के ख़िलाफ पिछले सालों में इस मध्य वर्ग की और से तीखी शिकायत की जाती रही है। इसे कुछ राहत देना सरकार की मजबूरी है क्योंकि यह तबका बीजेपी का मजबूत सामाजिक आधार है। इसी अभिजात्य मजदूर व टटपुंजिया तबकों को अपनी आर्थिक स्थिति के जरा खराब होते ही खुद के गरीब मजदूरों में शामिल होने का डर सबसे अधिक सताता है। और एक वास्तविक मजदूर वर्गीय आंदोलन की गैर हाजिरी में इसी तबके इसके प्रतिगामी पूर्वाग्रहों के आधार पर मजदूर वर्ग, स्त्रियों, वंचितों, अल्पसंख्यकों के अधिकारों की वजह से इसकी हालत बदतर होने का डर पैदा कर फासीवादी मुहिम के पक्ष में जुटाने की सर्वाधिक संभावना होती है।

इजारेदार वित्तीय पूंजीवाद में जनपक्षीय शासन का कोई मॉडल नामुमकिन है

स्पष्ट है कि एकाधिकारी वित्तीय पूंजीवाद के युग में किसी 'जनपक्षीय' वेलफेयर मॉडल के लिए जगह नहीं बची है। बहरहाल मोदी को भी ऐसे चुनावी वादे करने पड़ते हैं क्योंकि देश भर में उसका एकछत्र राज कायम करने हेतु यह जरूरी है। एकाधिकारी पूंजी ने इसीलिए मोदी को इसकी इजाजत दी है ताकि गरीब जनता की भलाई के कांग्रेस-केजरीवाल मार्का भ्रमजाल को भी पराजित कर हिंदू-मुस्लिम की राजनीति की आग में भस्म करने का अवसर भाजपा को मिल सके, उसे नफरती राजनीति की आग में पकाया जा सके और फिर उसे बंटोगे तो कटोगे की फासीवादी राजनीति की चाशनी में डुबाकर एक घातक कॉकटेल तैयार किया जा सके। मोदी का मकसद पूरे देश में एक आज्ञाकारी लाभार्थी वर्ग बनाना, उसके जरिये सांपद्रायिक राजनीति को आगे बढ़ाना और इसकी आड़ में जनपक्षीय दिखने वाले वायदों की राजनीति से हमेशा के लिए मुक्ति पा लेना है। 'वन नेशन वन इलेक्शन' की योजना भी इसी मकसद को पूरा करेगी। जाहिर है फासीवाद की पूर्ण विजय ऐसी तमाम जनपक्षीय राजनीति का अंत कर देगी। पूंजीवाद में विकास का एकमात्र मतलब पूंजी का संचय, उसका संकेंद्रण व केंद्रीकरण है। नीति-नियम-कानून सभी इसके अनुकूल ही होते हैं। चुनांचे, पूंजीवाद में विकास का कोई वैकल्पिक मॉडल नहीं हो सकता है। अमरीकी राष्ट्रपति ट्रंप के स्पांसर एलन मस्क ने तो कह ही दिया है कि सरकारी खर्च और जीडीपी दो भिन्न चीजें हैं अर्थात् सरकारी व्यय मात्र पूंजीपति वर्ग के हितों के लिए दमनात्मक कामों में होना चाहिए, जनकल्याण तो क्या उत्पादक अर्थव्यवस्था में भी सरकार की कोई भूमिका नहीं है।

पूंजीवादी व्यवस्था में समस्त संपदा और उसके स्रोतों पर पूंजीपति वर्ग का प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष नियंत्रण होता है। अतः मेहनतकश जनता की जरूरतों की नि:शुल्क पूर्ति वाले मॉडल की राजनीति छलावा ही हो सकती है। कोई तथाकथित जनपक्षधर नेता इसे लागू करने की कोशिश भी करता है तो यह कोशिश अपंग और एकांगी ही साबित होगी, क्योंकि इसके लिए जरूरी पूंजी तो पूंजीपति वर्ग ने बेशी मूल्य के रूप में हड़प रखी है। नतीजा यह कि विकास के अन्य कार्यों के लिए सरकारी फंड कम पड़ जाएगा। मसलन, सड़कें नहीं बन पाएंगी, कचरा साफ नहीं हो पाएगा तथा इन्फ्रास्ट्रक्चर विकास के काम नहीं हो पाएंगे। इन सबका असर घूम-फिर कर जनता पर ही पड़ेगा और उसकी सामाजिक जरूरतों की आपूर्ति बजट घाटा और कर्ज के कारण बाधित होगी। बजट व राजकोषीय घाटे का उपरोक्त विश्लेषण इसकी पुष्टि करता है।

पूंजीपतियों को यह शिकायत क्यों होती है कि सरकार मजदूरों को राहत दे रही है? क्योंकि यदि श्रमिक भूखा रहेगा, तो वह किसी भी शर्त पर काम करने को मजबूर होगा। यदि उसे शिक्षा, स्वास्थ्य और जीवन की थोड़ी बुनियादी सुविधाएं भी मिल जाएंगी, तो वह केवल 'नौकरी' ही नहीं, 'सम्मानजनक नौकरी' की मांग करेगा। इसलिए, समस्या मजदूरों की नहीं, बल्कि उस सोच की है जो मेहनत करने वालों को 'आलसी' और अपना मुनाफा बढ़ाने वालों को 'राष्ट्र निर्माता' मानती है! किंतु जब अरबपतियों के अरबों रुपये टैक्स में माफ होते हैं, जब बड़े उद्योगपतियों के कर्जे बट्टेखाते में डाल दिए जाते हैं, जब उन्हें मुफ्त की जमीनें, पानी, बिजली और सब्सिडी मिलती है, तब उसे 'नीतिगत सहायता' कहा जाता है, 'विकास' कहा जाता है। लेकिन जब मेहनतकशों के लिए थोड़ी राहत की बात आती है, जब कोई सरकार मजदूरों-किसानों के लिए कुछ सुविधाएं देने की कोशिश करती है, तब उसे 'रेवड़ी संस्कृति' का नाम देकर लानत भेजी जाती है।

सुप्रीम कोर्ट इसे अर्थव्यवस्था के लिए खतरा बताता है और चुनाव आयोग इसे चुनावी भ्रष्टाचार घोषित करता है। पर असली मुद्दा क्या है? असली मुद्दा है कि

पूंजीपतियों के मालिकाना हक को चुनौती न दी जाए। मेहनतकशों को इतना कमजोर रखा जाए कि वे कभी अपने श्रम का मूल्य मांगने की हिम्मत न कर सकें। अगर गरीब को थोड़ी राहत मिल गई, अगर उसकी रसोई में चूल्हा जलने लगा, अगर उसके बच्चों को स्कूल जाने का मौका मिल गया, तो वह गुलामी की जंजीरें तोड़ने की सोचने लगेगा! और यह बात सत्ता के असली आकाओं को बर्दाश्त नहीं। इसलिए मेहनतकशों की हर सुविधा को 'अनुत्पादक खर्च' बताया जाता है और पूंजीपतियों की हर मुनाफाखोरी को 'राष्ट्र निर्माण' का तमगा दे दिया जाता है। मेहनतकशों की जेब से हर सिक्का निकाल लिया जाए, ताकि वह भूख, कर्ज और बेबसी में इस व्यवस्था की सेवा करता रहे। सांप्रदायिकता, जातिवाद और झूठे राष्ट्रवाद के नारों के बीच असली लूट को छिपाने की साजिश है यह।

मजे की बात यह है कि जनता के पैसों से बनी सड़कें, बिजली, पानी, हवाई अड्डे और रेलवे बेचने वालों को कोई फ्रीबी बांटने वाला नहीं कहता। बड़े पूंजीपतियों को मिली टैक्स रियायतों और सस्ते कर्जों को कोई अर्थव्यवस्था के लिए खतरा नहीं मानता। लेकिन गरीब को कुछ मिल जाए, उसे थोड़ी राहत मिले, तो अर्थव्यवस्था खतरे में पड़ जाती है! यह खुलेआम लूट और खुलेआम धोखा नहीं तो और क्या है? ये लोग असल में एक ऐसी सत्ता चाहते हैं जो पूरी तरह से सरमायेदारों के प्रति निष्ठावान हो, जिसे सिर्फ अमीरों का हित दिखे, जिसे सिर्फ कॉरपोरेट का मुनाफा दिखे, और जिसे मेहनतकशों की हड्डियों से टपकता पसीना कभी नज़र ही न आए। इस हमले का असली निशाना सिर्फ गरीबों की 'रेवड़ियां' नहीं हैं, बल्कि मेहनतकशों की हर वह उम्मीद है, जिससे वे बेहतर जिंदगी की ओर बढ़ सकते हैं।

सार्वजनिक सुविधाओं की अबाध निशुल्क पूर्ति के लिए पूंजीवाद का उन्मूलन जरूरी

पूंजीवादी राज्य जब तक कल्याणकारी राज्य का ढोंग करने के लिए किसी न किसी रूप में मजबूर था, तो पूंजीवादी सरकारें भी कुछ सार्वजनिक सेवाओं को बहुत कम कीमत पर, लगभग निशुल्क, उपलब्ध कराती थीं। उदाहरण के लिए, भारत में 1980 के दशक के मध्य तक सभी का इलाज सरकारी अस्पतालों में बहुत ही कम खर्च पर होता था। इसी तरह सरकारी विद्यालयों व कॉलेजों में सभी के बच्चे पढ़ते थे। लेकिन आज बड़ी पूंजी इन सेवाओं पर पूर्ण रूप से कब्जा कर चुकी है। ये अकूत मुनाफा का क्षेत्र बन चुकी हैं। इनका बड़े पैमाने पर निजीकरण किया गया जिसकी शुरूआत 1980 के दशक में हुई। आज ऐसी सारी सेवायें - शिक्षा, पानी, बिजली, स्वास्थ्य, परिवहन, आदि - बहुत महंगी हो गयी हैं। जनता का बड़ा हिस्सा इनसे वंचित किया जा रहा है। इसलिए जो लोग "मुफ्त" पानी, बिजली, शिक्षा, स्वास्थ्य, परिवहन, आदि की नीति का विरोध करते हैं वे पूंजीपति वर्ग, खासकर बड़े पूंजीपति वर्ग के हितों से प्रेरित हैं। इनका तर्क है कि इससे "विकास" में लगाने के लिए सरकार के पास फंड नहीं बचेगा जबकि सरकार का काम ही "मुफ्त की रेवड़ी" बांटना नहीं 'विकास" कराना है। इससे लोगों को रोजगार प्राप्त होगा और वे इन सेवाओं को बाजार से खरीदने में सक्षम हो जाएंगे। वे यह भी कहते हैं कि विकास का काम पूंजीपति को ही करना चाहिए, सरकार को नहीं। सरकार को बस पूंजीपति वर्ग के लिए आधारभूत ढांचा तैयार करना चाहिए। वे बाजार को "स्वतंत्र" रूप से काम करने देने की बात भी करते हैं। इसके परिणामस्वरूप महंगाई किस कदर बढ़ रही है हम देख रहे हैं। ये सारे तर्क जनता और मजदूर विरोधी हैं।

तमाम तरह की सार्वजनिक सेवाओं व सामाजिक आवश्यकताओं को "निशुल्क" बनाने और अबाध रूप से इसकी पूर्ति के लिए क्या चीज है जो सबसे जरूरी है? सबसे जरूरी है: तमाम उत्पादन के दौरान पैदा होने वाले कुल अधिशेष और इस तरह कुल सामाजिक उत्पाद पर समाज का नियंत्रण कायम होना। जब तक पूंजीपति वर्ग का नियंत्रण है तब तक तमाम सामाजिक आवश्यकताओं की बढ़ते पैमाने पर अबाध पूर्ति असंभव है क्योंकि जरूरी फंड उपलब्ध नहीं होगा। भारत में ही नहीं, विकसित देशों सहित पूरे विश्व के पूंजीवाद में हम यह घटित होते और इसके नाम पर जनकल्याण कार्यों में तथाकथित किफायतशारी या ऑस्टेरिटी की नीतियों को लागू किया जाता देख सकते हैं।

पूंजीवादी समाज में समस्त सामाजिक आय का एकमात्र स्रोत मजदूर वर्ग द्वारा पैदा मूल्य और बेशी मूल्य है जिसे पूंजीपति वर्ग हड़प लेता है। जब तक इस पूंजीवादी हस्तगतकरण को आधुनिक समाज खत्म नहीं करता है और सारे उत्पादन के साधनों को सामाजिक स्वामित्व में नहीं ले आता है तब तक वह समाज जनता के विकास और उसकी सामाजिक जरूरतों पर समुचित रूप से खर्च नहीं कर सकता है। अगर मेहनतकश चाहते हैं कि सामाजिक उत्पादन का उपयोग उनकी अपनी सामाजिक व सामूहिक जरूरतों (स्कूल, परिवहन,

अस्पताल, सड़क, आदि) की पूर्ति के लिए हो, तो उन्हें इस पूंजीवादी उत्पादन संबंध (जिसके तहत मजदूर वर्ग को एकमात्र अपनी श्रम शक्ति के मूल्य से संतोष करना पड़ता है, जबकि उनके द्वारा ही पैदा किये गये समस्त बेशी मूल्य को पूंजीपति वर्ग हड़प लेता है) पर आधारित सामाजिक उत्पादन के निजी हस्तगतकरण की व्यवस्था को खत्म करना होगा। दूसरे अर्थों में, समस्त उत्पादन साधनों पर सामाजिक नियंत्रण स्थापित करना होगा। यही समाजवाद है। यही मजदूर वर्ग का ऐतिहासिक मिशन है। यही मजदूरों मेहनतकशों का वास्तविक लक्ष्य होना चाहिए।

कल्पना कीजिए, समाज के ढांचे में ऐसा परिवर्तन हो जो श्रम व उत्पादन के सभी साधनों को समाज की साझा संपत्ति बना दे और मजदूरों का श्रम पूंजीपतियों के मुनाफे में नहीं बदले। यानी, कुल सामाजिक उत्पाद पूंजीपतियों के स्वामित्व से निकलकर समाज के स्वामित्व में आ जाए। अगर हम ऐसी उत्पादन व्यवस्था में वितरण पर विचार करें, तो पाएंगे कि सार्वजनिक सेवाओं को मुहैया कराना उस समाज का मुख्य और स्वाभाविक उत्तरदायित्व होगा। एक ऐसे समाज में जिसमें पूंजीपति वर्ग का शासन नहीं होगा और उत्पादन निजी मुनाफा के लिए नहीं लोगों के भौतिक व सांस्कृतिक विकास की जरूरतों को पूरा करने के लिए होगा, उस समाज में श्रम द्वारा उत्पादित कुल सामाजिक उत्पाद का वितरण या बंटवारा किस तरह होगा? सर्वप्रथम यह बंटवारा उत्पादन की आर्थिक जरूरतों के आधार पर किया जाएगा। जैसे कि, इस्तेमाल कर डाले गये उत्पादन साधनों को बदलने, उत्पादन का विस्तार करने तथा दुर्घटनाओं व प्राकृतिक आपदाओं से उत्पन्न पेरशानियों और बाधाओं के लिए रिजर्व फंड पर खर्च होगा। इसके बाद बचे सामाजिक उत्पाद में से सामाजिक जरूरतों पर खर्च होगा। इन सामाजिक जरूरतों पर होने वाले खर्च में सबसे महत्वपूर्ण खर्च वह है जो स्कूलों, स्वास्थ्य सेवाओं, आदि जैसी सार्वजनिक आवश्यकताओं की साझा तुष्टि के लिए जरूरी व अपेक्षित है। इसके अतिरिक्त काम करने में असमर्थ लोगों के लिए भी कुल सामाजिक उत्पाद का एक हिस्सा खर्च होगा। दोनों मदों में खर्च लगातार बढ़ेगा और इससे जुड़ी सेवायें "निशुल्क" ही होंगी क्योंकि इसकी पूर्ति उसी कुल सामाजिक उत्पाद से की जाएगी जिसे पैदा करने में पूरे समाज का श्रम (कुल सामाजिक श्रम) लगा है।

हम देख सकते हैं कि एक तरफ प्रत्यक्ष उत्पादकों को, निजी व्यक्ति की हैसियत से, कुल सामाजिक उत्पादन के जिस एक भाग से वंचित किया जाता है वह समाज के एक सदस्य होने के नाते उन्हें सार्वजनिक सेवा व सुविधा के रूप में मिल जाता है। इस तरह निजी और सामूहिक हितों के उस टकराव का अंत हो जाता है जो पूंजीवाद में पाया जाता है। स्पष्ट है कि शिक्षा, स्वास्थ्य, पानी, बिजली, परिवहन जैसी सार्वजनिक सेवाओं पर होने वाला खर्च और कुछ नहीं समाज के कुल सामाजिक श्रम के एक भाग का ही खर्च है। इसलिए मसला न तो "मुफ्त" का है और न ही "मुफ्तखोरी" का। वास्तविक मसला कुल सामाजिक उत्पाद पर से पूंजीपतियों के नियंत्रण को खत्म करने का है। ऐसा होते ही ये सारी सामाजिक आवश्यकताओं वे सेवाओं की पूर्ति सहजता से ही नहीं प्रचुरता से होने लगेगी। लेकिन ऐसा एकमात्र पूंजीवाद को पलटकर ही संभव हो सकता है। तभी पेय जल, बिजली, स्कूल, स्वास्थ्य सेवा, परिवहन, आदि की सुविधा की "निशुल्क" पूर्ति बढ़ेगी। "निशुल्क" सार्वजनिक सेवाओं की उत्रोत्तर वृद्धि और इसका अबाध रूप से जारी रहना सर्वप्रथम इस बात पर निर्भर करता है कि सामाजिक धन पर से पूंजीपति वर्ग का नियंत्रण खत्म हो और पूंजीवादी व्यवस्था का खात्मा हो। मजदूर वर्ग को यह कभी नहीं भूलना चाहिए कि पूंजीवाद के रहते मजदूर वर्ग की जिंदगी कभी भी सुख से नहीं कट सकता है।

पूर्व में मजदूर वर्ग ने जो भी अधिकार हासिल किये थे आज उन्हें भी मोदी एवं अन्य सरकारों द्वारा निर्ममता से छीना जा रहा है। दूसरी तरफ, उनका वोट पाने के लिए पार्टियां कुछ न कुछ "मुफ्त" देने की बात करती हैं। लेकिन बड़ी पूंजी को इतना भी मंजूर नहीं है। इसलिए वह इस कोशिश में है कि वोट से सरकार बनाने की व्यवस्था को ही खत्म कर दिया जाए। इसके लिए ही हिंदू-राष्ट्र बनाने का नारा दिया जा रहा है जिसकी सफलता के बाद उनका यह उद्देश्य भी पूरा हो जाएगा।

लेकिन यह भूलने की जरूरत नहीं कि पूंजीवाद का हर हमला अपने खिलाफ संघर्ष को भी जन्म देता है। मेहनतकशों ने इतिहास में कभी भी मुफ्त में कुछ नहीं पाया, उन्होंने हर हक के लिए लड़ाई लड़ी है। यह लड़ाई जारी है, और जारी रहेगी। मौजूदा वक्त का तकाजा है कि "मुफ्तखोरी" के विरोध के नाम पर देश में छेड़ी गई राजनीतिक मुहिम के बरक्स हम अपना मजदूर वर्गीय नजरिया लोगों तक ले जाएं कि आम जनता के लिए सार्वजनिक सेवाओं की मुकम्मल और अबाध पूर्ति पूंजीवाद को उखाड़ फेंक कर ही की जा सकती है। □

आर्थिक

नई आर्थिक नीतियों के बारे में एक बार फिर से

■ अजय सिन्हा

आम तौर पर 1991 में नरसिम्हा राव की सरकार के दौर की आर्थिक नीतियों पर चर्चा होती है, तो प्राय: तत्कालीन भारतीय अर्थव्यवस्था के वास्तविक कार्यचालन (actual working) को उजागर करने पर हमारा ध्यान न के बराबर होता है। ध्यान महज नीतियों के अच्छे या बुरे होने पर या फिर उन्हें अच्छा या बुरा साबित करने पर टिक जाता है। इसलिए हम यहां इन आर्थिक नीतियों पर फिर से बात करना शुरू कर रहे हैं तो हमारी कोशिश है कि हमारा ध्यान मुख्यत: तत्कालीन भारतीय अर्थव्यवस्था के वास्तविक कार्यचालन पर केन्द्रित रहे। तभी हम यह समझ पाएंगे कि भारत में पूंजीवादी विकास के एक विशेष मोड़ पर इन नई आर्थिक नीतियों की आवश्यकता क्यों पैदा हुई और देश के पूंजीपति वर्ग को नेहरू-युग की आर्थिक नीतियों को क्यों त्याग करना पड़ा। जब हम इस दृष्टि से विचार करते हैं, तो हम पाते हैं कि नेहरू-युग की आर्थिक नीतियां 1990 के दशक के आगमन के पहले ही पूंजीपति वर्ग के उस समय के हितों को आगे बढ़ाने की दृष्टि से बेकार हो गई थीं और बात यहां तक पहुंच गई थी कि भारतीय अर्थव्यवस्था बुरी तरह से संकटग्रस्त हो चुकी थी जिसका प्रस्फुटन भुगतान संतुलन के संकट (BoP Crisis) के रूप में हुआ था। दूसरे शब्दों में, भारत में अगले चरण के पूंजीवादी विकास की आवश्यकताओं को पूरा करने में नेहरू-युग की नीतियां तब पूरी तरह विफल साबित हो चुकी थीं। इसलिए हम जब इस लेख में नई आर्थिक नीतियों पर चर्चा करेंगे, तो हम वास्तव में बाह्य आवरण (नीतियों) से परे भारतीय अर्थव्यवस्था के सार तक पहुंचने की कोशिश करेंगे, यानी 'आजादी' के बाद से लेकर अब तक के भारत के पूंजीवादी उत्पादन और उत्पादन प्रणाली के वास्तविक कार्यचालन और उनको तय करने वाले वास्तविक कारकों तक पहुंचने का प्रयास करेंगे। हमारा यही प्रयास नई आर्थिक नीतियों पर हमारे इस लेख का सार है। इस लेख को निर्देशित करने वाली मुख्य बात यही है।

दूसरी बात यह है कि हमारा यह लेख उस दृष्टिकोण के विरुद्ध संघर्ष करता है जो नई आर्थिक नीतियों को महज साम्राज्यवादी देशों द्वारा बाह्य रूप से थोपी गई आर्थिक नीति मानता है। यह दृष्टिकोण कहता और मानता है कि इन नीतियों को भारतीय पूंजीपति वर्ग के ऊपर बलपूर्वक लादा गया और इनमें भारतीय पूंजीपति वर्ग की प्रेरणा और उनको लाभ पहुंचाने वाला कोई तत्व या पक्ष मौजूद नहीं है। हम इस बात से इनकार नहीं करते कि इन नीतियों की शुरुआत अलग-अलग नामों से 1980 के दशक से ही मुख्य रूप से साम्राज्यवादी देशों[A] द्वारा और उनकी संस्थाओं की देख-रेख में ही की गई। हम इससे भी इनकार नहीं करते कि साम्राज्यवादी देशों ने ही इन नीतियों को विश्व स्तर पर छल-बल से और दबाव डालकर तथा विकासशील देशों के कर्ज-संकट में फंसे होने का फायदा उठाते हुए लागू करने का बीड़ा उठाए। लेकिन इससे यह समझ लेना कि इन नीतियों में भारतीय पूंजीपति वर्ग के हितों को आगे बढ़ाने वाली कोई बात नहीं है या उन्होंने भारतीय पूंजीपतियों के हितों की पूरी तरह से अवहेलना करके या उनकी परवाह किये बिना ही इन नीतियों को बनाया और लागू किया, तो यह एक बेहद ही मूर्खतापूर्ण बात होगी। यह सोंच द्वितीय विश्वयुद्ध के उपरांत बने अंतर्राष्ट्रीय हालात में तेजी से विकास करे रहे देशों, विशेष रूप से भारत व इस जैसे अन्य देशों, में हुए पूंजीवादी विकास के इतिहास के बारे में अज्ञानता को दर्शाती है।

दूसरी तरफ, इस बात में भी कोई संदेह नहीं कि भारत की पूंजीवादी सरकार ने भारत में पूंजी के आगे विस्तार और विकास की ऐतिहासिक जरूरतों के आधार पर नई आर्थिक नीतियों की शुरुआत की, लेकिन वहीं इसमें भी कोई संदेह नहीं होना चाहिए कि ऐसा उसने निश्चित रूप से विश्व पूंजीवाद की एक इकाई के रूप में, विश्वपूंजीवाद के एक हिस्सेदार देश के रूप में और पूंजीवादी-साम्राज्यवादी वैश्विक ढांचे की जरूरतों के अनुरूप तथा साम्राज्यवादी थिंक टैंकों से मदद लेते हुए व उसके लय-ताल में ही की। इसके अलावा भारत के पूंजीपति वर्ग के पास रास्ता भी तो नहीं था, खासकर तब जब पूंजीवादी विकास को और भी ऊंचे स्तर (एकाधिकारी चरण, जो स्वाभाविक है) पर ले जाना था। दरअसल दिक्कत यह है कि कुछ लोग यह सोंच लेते हैं कि भारत का पूंजीपति वर्ग साम्राज्यवाद के उच्च मार्ग से अलग हटकर कोई और रास्ता ले सकता था और फिर वे इस चश्में से नई आर्थिक नीतियों का मूल्यांकन और विश्लेषण करना शुरू कर देते हैं जिससे वे एक निम्न-पूंजीवादी संकीर्णतावादी या बचकानेपन से भरे विमर्श

और राष्ट्रीयतावदी भावुकता के दलदल में जा फंसते हैं। यह सच है कि साम्राज्यवाद के युग में पूंजीवादी विकास के राजनीतिक अर्थशास्त्र पर होने वाली चर्चाओं में आम तौर पर यही भावुकता हावी रहती है।

ऐसा दृष्टिकोण मुख्य रूप से आर्थिक विश्लेषण के आधार में उसके सार के बदले ऊपरी तौर पर यानी महज नीतियों में हो रहे परिवर्तन को रखने की वजह से पैदा लेता है। इसमें फंसे लोग एक ऐसे पूंजीवादी देश की कल्पना करते हैं जो साम्राज्यवाद के साथ हाथ मिलाकर नहीं चलेगा या समझौता नहीं करेगा और न ही उसकी नीतियों का पालन करेगा जो उनके खुद के लिए भी फायदेमंद हैं। वे कहीं दिल या दिमाग में यह भी माने बैठे होते हैं कि कोई ऐसा पूंजीवादी विकास भी हो सकता है जो मेहनतकशों और आम जनता के विकास के लिए होगा या विकास से जुड़ी उनकी आकांक्षाओं को पूरा करने वाला होगा। जबकि हमें यह कभी नहीं भूलना चाहिए कि यह एक निर्विवाद नियम है कि बुर्जुआ व्यवस्था के तहत पूंजीवादी विकास केवल शासक पूंजीपति वर्ग के लिए ही होता है। दूसरे शब्दों में, पूंजीवाद में विकास का अर्थ पूंजी का विकास होता है न कि आम लोगों व प्रत्यक्ष उत्पादकों का। इसलिए ही बुर्जुआ सरकारों को अपने शासक पूंजीपति वर्ग के हित व उद्देश्य को आगे बढ़ाने के लिए साम्राज्यवाद के साथ समझौता करने में कोई झिझक नहीं होती है। हालांकि टकराव भी होता है जो स्वाभाविक है। इसमें मेहनतकश जनता के लिए लाभ, यदि कोई होता है, तो केवल इसका उपोत्पाद या सह-उत्पाद के रूप में ही होता है। इसलिए साम्राज्यवाद के साथ समझौता करने की प्रवृत्ति से मुक्त, खासकर एक मजबूत विश्वव्यापी समाजवादी खेमे की गैर-मौजूदगी में, पूंजीवादी देश की कल्पना करना शुद्ध रूप से निम्न बुर्जुआ अभिलाषी (wishful) सोच है। लेकिन इन बातों के उजागर होने की शर्त है कि हम नई आर्थिक नीतियों की आलोचना करते वक्त इन नीतियों की सतह के नीचे उतर कर तत्कालीन नेहरू-युग के पूंजीवादी विकास को आगे बढ़ाने वाली अर्थव्यवस्था के वास्तविक कार्यचालन का विश्लेषण करने में सफल होंगे। तभी हम समझ सकेंगे कि वास्तव में (भारतीय) अर्थव्यवस्था के वास्तविक कार्यचालन में क्या हुआ या हो रहा था जिसने आर्थिक नीतियों में बदलाव को आवश्यक बना दिया। मार्क्स के शब्दों में कहें तो हमारी व्याख्या का प्रस्थान बिंदु उत्पादन और पुनरुत्पादन होना चाहिए और उत्पादन के विरोधाभासी पहलुओं के संबंध में ही नहीं उसके अन्य चरणों (वितरण, आदि) की व्याख्या करने को लेकर भी उत्पादन के चरण को निर्णायक मानकर चलना चाहिए।[B]

तीसरी बात यह है कि हम यह नहीं मानते हैं कि नई आर्थिक नीतियों का अर्थ समाजवाद का परित्याग या भारतीय पूंजीवाद के समाजवादी चरित्र का परित्याग (jettisoning) है। नई आर्थिक नीतियों ने महज यह किया कि इसने नेहरू के समय व युग की पूंजीवादी विकास की नीतियों को हटाकर खुद उसकी जगह ले ली और ऐसा सिर्फ इसलिए कि ऐसा किये बिना पूंजीवादी विकास को आगे ले जाना असंभव हो चुका था। ये ऐसी नीतियां हैं जो नए (विकसित) भारतीय पूंजीवाद की जरूरतों के अनुकूल थीं और हैं, इसके विकास को उच्चतर स्तर पर ले जाने के लिए जरूरी हो गई थीं या हो गई हैं।

हम पाते हैं कि पिछली सदी के अस्सी के दशक में, पूंजीवादी विकास का स्तर उद्योग और कृषि दोनों में ऐसे स्तर पर पहुंच गया था[C] कि वह पुरानी जूतियों (नीतियों) में नहीं दौड़ सकता था। उसके पैर (विकास) उन पुराने जूतियों (नीतियों) से बड़े हो चुके थे। उसे नई जूतियों की जरूरत थी। मैं यहां इस बात पर जोर देना चाहता हूं कि नेहरू-युग के भारतीय पूंजीवाद के समाजवादी होने का कोई सवाल ही नहीं उठता है, क्योंकि इसमें कोई समाजवादी चरित्र या तत्व नहीं था, और हम इस बात को आगे की व्याख्या के लिए हाथ में लेंगे कि भारतीय संशोधनवादी वामपंथियों को ऐसा क्यों लगता है या लगता रहा है। फिर भी, फिलहाल हम इतना कह सकते हैं कि उन्हें ऐसा इसलिए लगता है क्योंकि उन्होंने उत्पादन और पुनरुत्पादन प्रक्रिया के उत्पादन स्थल (production site) पर क्या हो रहा है उसे नजरअंदाज कर दिया, जहां लूट की एक व्यवस्था मुकम्मल तौर पर और विशुद्ध रूप से पूंजीपति वर्ग को विकसित करने और पूंजी की जड़ों को मजबूत करने के लिए ही सब कुछ हो रहा था या किया जा रहा था। लूट की व्यवस्था ने ऊपर से लेकर नीचे तक, नौकरशाही से लेकर अधिकारियों-कर्मचारियों एवं ठेकेदारों आदि के रूप में और उनके बीच में एक बुर्जुआ वर्ग का निर्माण किया और स्वाभाविक रूप से इस विकास के उपोत्पाद या सह-उत्पाद के रूप में कुछ लाभ मेहनतकशों को भी मिले। लेकिन संशोधनवादियों ने चीजों को निम्न बुर्जुआ चश्मे से देखा और सोचा कि नेहरू-महालैनोबिस नीति द्वारा स्थापित बुर्जुआ राज्य की नियंत्रणशुदा प्रणाली समाजवाद है। स्वाभाविक रूप से, जब उन्होंने नई आर्थिक नीतियों को देखा तो उनमें हाहाकार का माहौल पैदा हो गया मानो नई आर्थिक नीतियों ने जिसे प्रतिस्थापित किया वो समाजवाद जैसी कोई बेहद कीमती चीज थी। विडंबना यह है कि वे (संशोधनवादी) राज्यों में जहां भी सत्ता में थे, उन्होंने वही किया जो इन नीतियों को लाने वालों ने किया या कर रहे थे। क्यों? क्योंकि बुर्जुआ व्यवस्था के आधिकारिक प्रतिनिधि के रूप में सत्ता में होने के नाते, उन्हें उस समय वही करना था जो पूंजी के विकास के लिए सबसे उपयुक्त

हो। उन्हें नई आर्थिक नीतियों को लागू करना था और उन्होंने घुमाफिराकर ठीक वही किया। इसलिए उभरते भारतीय पूंजीवाद के नेहरूवादी मॉडल में समाजवाद महज एक शब्द या एक आवरण भर था। हम इसे छलावरण (camouflage) कह सकते हैं। इसलिए यहां यह समझना एक काम है कि इसकी जरूरत क्यों पड़ी और यह आवरण वास्तव में समाजवाद से ठीक-ठीक किस तरह मेल खाता था जिससे ये सारा भ्रम पैदा हुआ। हम इस पर भी आगे विस्तार से बात करेंगे। फिर भी, इतना तो अभी कहा ही जा सकता है कि यह विचलन वितरण व वितरण संबंधी नीतियों के पहलू पर जोर देने और उत्पादन और पुनरुत्पादन के पहलुओं को नजरअंदाज करने से पैदा हुआ जो सच कहें तो मार्क्सवादियों के बीच फैले कीन्सवाद के प्रभाव का नतीजा था और वामपंथी सोच पर कल भी हावी था तथा आज क्रांतिकारी हिस्सों व हलकों में भी जाने या अनजाने बहुत हद तक हावी है।

इससे एक बड़ा नुकसान यह हुआ कि अर्थव्यवस्था की बुर्जुआ प्रणाली मजदूरों-मेहनतकशों के गुस्से से बच गयी, उनके हमलों के निशाने पर पूंजीवादी उत्पादन प्रणाली नहीं आ पाई, और सारा ध्यान केवल या मुख्य रूप से इसके वितरण के पहलुओं पर ही केंद्रित हो गया। इसलिए चारो तरफ भ्रम का जाल फैल गया और मेहतनकशों ने उत्पादन की व्यवस्था को बदलने का सवाल अपने दिल-दिमाग से निकाल दिया और इसे पूरी तरह से छोड़ दिया, और एकमात्र वितरण की नीतियों पर जोर दिया। सबसे बड़ी बात यह है कि संशोधनवादियों ने इसे चुनाव में जीत और इसी पूंजीवादी व्यवस्था में 'कम्युनस्टि' सरकार या 'वाम' सरकार बनाने के लक्ष्य से जोड़ दिया। परिणामस्वरूप क्रांति या वर्ग-संघर्ष पीछे चला गया। वर्ग-सहयोग की दिशा व बात हावी हो गई। हम बंगाल, केरल और त्रिपुरा जैसे राज्यों में दशकों तक कायम रहे 'वाम' सरकारों के कृत्यों-कुकृत्यों को देख चुके हैं जिसका कुल निचोड़ यह हुआ कि मजदूर क्रांति की बात ही भूल गये और इसकी सजा के रूप में फासीवाद के उभार को झेल रहे हैं।

दिक्कत यह है कि फासीवाद के दिनोंदिन खुले रूप लेते जा रहे हमलों से लड़ने में भी वही संशोधनवादी सोंच हावी है, जबकि हम देख रहे हैं कि मुट्ठी भर बड़े पूंजीपतियों के हाथों में धन व पूंजी का विशाल और अविश्वसनीय संकेन्द्रण हो चुका है। जाहिर है, इसे ही और आगे बढ़ाने के लिए फासीवाद का आगमन हुआ है। यहां कींसवादी-संशोधनवादी सोंच इस रूप में हावी है कि कुछ क्रांतिकारी कम्युनिस्ट फासीवाद का विकल्प ***न्यू डील*** में देखते या पाते हैं। वे बहसों में यह कहते पाये जाते हैं कि विश्वपूंजीवाद का संकट फासीवाद को ही नहीं ***न्यू डील*** (अमेरिका में 1933-34 में राष्ट्रपति फयोदोर रूजवेल्ट द्वारा कींसवाद के अनुसरण के फलस्वरूप अपनायी गई आर्थिक नीतियां) को भी जन्म देता है। ऐसा वे कब और क्यों कहते हैं? ऐसा वे फासीवाद विरोधी रणनीति पर तथा फासीवादी विरोधी पर्चे तैयार करने के वक्त होने वाली बहसों में करते हैं। जहां तक 'क्यों' का सवाल है तो ऐसा वे एक तो विश्वपूंजीवाद के अंतहीन संकट को और दूसरा, वे इस संकट से नाभिनालबद्ध फासीवाद के खतरे को कमतर बताने के लिए और इसके साथ-साथ यह कहने के लिए भी करते हैं कि अगर फासीवाद का खतरा संकटजनित है भी तो इसे रोकने के लिए क्रांतिकारी संघर्ष, जो फासीवाद विरोधी कार्यक्रम आधारित किसी अंतवर्ती चरित्र वाली क्रांतिकारी सरकार में अपना ठोर पा सकता है, से ज्यादा ***न्यू डील*** वाली सरकार (जैसा कि राहुल गांधी की नीतियों में कुछ-कुछ दिखता है) का महत्व है। इस तरह हम देख सकते हैं कि किस तरह यहां आकर संशोधनवादियों और तथाकथित क्रांतिकारियों के बीच का एक अंतिम और बहुत महत्वपूर्ण भेद भी पूरी तरह से भेद मिट जता है। (आगे जारी....)

एंडनोट -

A . पश्चिमी साम्राज्यवादी शक्तियों, विशेषकर अमेरिकी साम्राज्यवाद द्वारा।

B. देखें 'राजनीतिक अर्थव्यवस्था की आलोचना में योगदान' का परिशिष्ट, 1859.

C. आदित्य मुखर्जी लिखित पुस्तक 'नेहरूज़ इंडिया' (Nehru's India 2024) देखें। हालांकि भारत में हुए पूंजीवादी विकास के आंकड़ों के लिए स्रोतों की कमी नहीं है, फिर भी यह पुस्तक सबसे नई है और संक्षेप में कई तरह के आंकड़ों को पूरी सफाई से और बहुत ही बेबाकी से पूंजीवादी दृष्टिकोण से पेश करती है। वे लिखते हैं - *"पहली तीन पंचवर्षीय योजनाओं (1951-65) के दौरान, भारत में उद्योग 7.1 प्रतिशत प्रति वर्ष की दर से बढ़ा। यह 19वीं सदी की विऔद्योगीकरण प्रक्रिया और 1914-47 के बीच धीमी औद्योगिक वृद्धि से बहुत दूर था। यह 1951 और 1969 के बीच औद्योगिक उत्पादन के समग्र सूचकांक में तीन गुनी वृद्धि, उपभोक्ता वस्तु उद्योगों में 70 प्रतिशत वृद्धि, मध्यवर्ती वस्तुओं के उत्पादन में चौगुनी वृद्धि और पूंजीगत वस्तुओं के उत्पादन में दस गुनी वृद्धि का परिणाम थी। ... औद्योगिक विकास के इस पैटर्न ने एक संरचनात्मक परिवर्तन को जन्म दिया... ऐसी स्थिति से, जहां भारत में कोई भी पूंजी निवेश करने के लिए वस्तुतः संपूर्ण उपकरण (90 प्रतिशत) आयात करना पड़ता था, उपकरण के रूप में कुल निश्चित निवेश में आयातित उपकरणों का हिस्सा 1960 में घटकर 43 प्रतिशत और 1974 में मात्र 9 प्रतिशत रह गया जबकि इस अवधि (1960-74) में भारत की अर्थव्यवस्था लगभग ढाई गुना बढ़ी।"*

मुखर्जी बिल्कुल सही फरमाते हैं कि *"यह औपनिवेशिक ढांचे की असंरचना (un-structuring) थी जिसने बाद में भारत को वैश्वीकरण की प्रक्रिया में भाग लेने के योग्य बनाया और इससे उसे काफी लाभ हुआ... चूंकि स्वतंत्रता के समय भारत के पास पूंजीगत माल उद्योगों (कैपिटल गुड्स इंडस्ट्रीज) के विकास के विशाल कार्य को करने के लिए पर्याप्त रूप से बड़ा स्वदेशी निजी क्षेत्र नहीं था, इसलिए एकमात्र अन्य विकल्प था सार्वजनिक क्षेत्र के माध्यम से इसे विकसित*

करना... सार्वजनिक क्षेत्र को स्पष्ट रूप से, व्यापक राय से जिसमें पूंजीपतियों और वामपंथियों की राय शामिल थी, विदेशी पूंजी प्रभुत्व के विकल्प के रूप में देखा गया था। सार्वजनिक क्षेत्र ने जल्द ही भारत में औद्योगिक और ढांचागत परिदृश्य को बदल दिया। नेहरू के समय में, राउरकेला, भिलाई, दुर्गापुर और बोकारो में चार प्रमुख इस्पात संयंत्र सार्वजनिक क्षेत्र में आये। बड़ी संख्या में पूंजीगत माल उद्योग (कैपिटल गुड्स इंडस्ट्रीज), ढांचागत परियोजनाएं और अन्य क्षेत्र, जिनमें बड़े निवेश की आवश्यकता होती है और जिन्हें विकसित करना उस समय के भारतीय निजी क्षेत्र के बस में नहीं था, सार्वजनिक क्षेत्र में शुरू किए गए। उदाहरण के रूप में इंडियन टेलीफोन इंडस्ट्रीज, भाकरा डैम, दामोदर वैली कारपोरेशन और हीराकुद डैम 1947-48 में ही शुरू हो गए थे; हिंदुस्तान मशीन टूल्स (एचएमटी), भारत हेवी इलेक्ट्रिकल्स लिमिटेड, हिंदुस्तान शिपयार्ड, भारत पेट्रोलियम, हेवी इंजीनियरिंग कॉर्पोरेशन, इंडियन ऑयल कॉर्पोरेशन, हिंदुस्तान एंटीबायोटिक्स, हिंदुस्तान इंसेक्टिसाइड्स, नागार्जुन सागर डैम, नेशनल मिनरल डेवलपमेंट कारपोरेशन 1950 के दशक में शुरू किए गए थे और नेशनल बिल्डिंग एंड कंस्ट्रक्शन कारपोरेशन, इंडियन ड्रग्स एंड फार्मास्यूटिकल्स लिमिटेड, फ़र्टिलाइज़र कारपोरेशन ऑफ इंडिया, शिपिंग कारपोरेशन ऑफ इंडिया, हिंदुस्तान एयरोनॉटिक्स लिमिटेड, भारत अर्थ मूवर्स 1960 के दशक के प्रारंभ में शुरू किए गए थे। यह बताना महत्वपूर्ण है कि नेहरू के समय में ये सार्वजनिक क्षेत्र के उपक्रम घाटे में चलने वाले 'सफेद हाथी' नहीं थे जो राष्ट्रीय संसाधनों पर बोझ बन कर काम कर रहे थे, जो कि उनमें से कुछ बाद के दशकों में बन गए। इसके विपरीत, उन्होंने महत्वपूर्ण क्षेत्रों में आत्मनिर्भरता बनाने के अलावा भारत में संसाधन जुटाने में भी योगदान दिया। 1950-51 से 1964-65 तक नेहरूवादी काल में सार्वजनिक क्षेत्र की बचत निजी कॉर्पोरेट क्षेत्र की तुलना में काफी अधिक थी। नेहरू 1961 में दूसरे एचएमटी कारखाने का उद्घाटन करते हुए गर्व से घोषणा कर सकते थे कि 'यह कारखाना पुरानी हिंदुस्तान मशीन टूल्स फैक्ट्री के मुनाफे या अधिशेष से बनाया गया है।' आज के नवउदारवादी जो अंधाधुंध निजीकरण पर जोर देते हैं, वे इस पहलू को पूरी तरह से नजरअंदाज करते हैं। स्वदेशी निवेश करने के लिए विदेशी पूंजी और तकनीक पर निर्भरता कम करना देश की संप्रभुता हासिल करने और उसे बरकरार रखने का एक तरीका था, इसके साथ ही अन्य रणनीतियां भी अपनाई गईं। भारत ने अपने विदेशी व्यापार में विविधता लाने की एक सोची-समझी रणनीति अपनाई ताकि किसी एक देश या देशों के समूह पर उसकी निर्भरता कम हो जाए। नतीजतन, विदेशी देशों के साथ व्यापार का भौगोलिक संकेन्द्रण सूचकांक (ज्योग्राफिकल कंसंट्रेशन इंडेक्स या जीसीआई) तेजी से गिरा। भारत के निर्यात का जीसीआई 1947 में 0.69 से घटकर 1975 में 0.22 हो गया। आयात के मामले में भी जीसीआई में इसी तरह की गिरावट आई। गौरतलब है कि जीसीआई में गिरावट का नतीजा यह हुआ कि पश्चिम के महानगरीय देशों की हिस्सेदारी, जो पहले भारत के व्यापार पर हावी थी, में तेजी से गिरावट आई। उदाहरण के लिए, भारत के निर्यात में यूके और यूएस की हिस्सेदारी, जो 1947 में 45 प्रतिशत थी, आधे से भी अधिक घट गई, और 1977 तक यह केवल 20 प्रतिशत रह गई। यह आंशिक रूप से समाजवादी ब्लॉक (जिसने वस्तु विनिमय और रुपया व्यापार की अनुमति देकर भारत को उस समय बचाया जब वह विदेशी मुद्रा की अत्यधिक कमी से जूझ रहा था) और अन्य अविकसित देशों के साथ भारत के व्यापार में वृद्धि के कारण हासिल हुआ।"

इससे यह भी पता चलता है कि भारत का उपरोक्त पूंजीवादी विकास साम्राज्यवाद पर निर्भरता को कम करने के लक्ष्य को दृष्टि में रखकर जरूर हुआ लेकिन यह साम्राज्यवाद के उच्च मार्ग पर चलकर और उसके सामान्य वातावरण में ही हुआ व हो सकता था, किसी और रास्ते से नहीं। आदित्य मुखर्जी तीर्थंकर रॉय और मेघनाथ साहा जैसे नवउदारवादी अर्थशास्त्रियों की आलोचना करते हुए आगे लिखते हैं - *"उनके आंकलन में नेहरूवादी काल में औपनिवेशिक काल की तुलना में विकास के सभी संकेतकों, प्रति व्यक्ति जीडीपी, उद्योग, कृषि, बचत, निवेश या घरेलू पूंजी निर्माण में हुई भारी वृद्धि की अनदेखी की गई है। साथ ही, वे इस तथ्य की भी अनदेखी करते हैं कि नेहरू के समय भारत में विकास के पैरामीटर ब्रिटेन, अमेरिका, फ्रांस, चीन और जापान सहित विकास के समान चरण में दुनिया के अन्य देशों की तुलना में बेहद अनुकूल थे। हालांकि मैंने आजादी के बाद नेहरू के समय में विकास के मापदंडों की औपनिवेशिक काल के साथ-साथ अन्य देशों के साथ तुलनात्मक स्तर पर विस्तृत तुलना की है। मैं यहां कुछ सूचकांक का उल्लेख करता हूं। भारत की राष्ट्रीय आय या सकल राष्ट्रीय उत्पाद (जीएनपी) 1951 से 1964-65 के बीच, तीसरी पंचवर्षीय योजना के अंतिम वर्ष यानी 1965-66 को छोड़कर जिसमें अभूतपूर्व अकाल और युद्ध का सामना करना पड़ा था, प्रति वर्ष लगभग 4 प्रतिशत की औसत दर से बढ़ी। यह औपनिवेशिक शासन की पिछली आधी सदी के दौरान हासिल की गई विकास दर का लगभग चार गुना था। स्वतंत्रता के बाद भारत द्वारा हासिल की गई विकास दर की तुलना उन्नत देशों द्वारा तुलनीय चरण में, यानी उनके शुरुआती विकास के दौरान हासिल की गई दरों से करने पर भारत का प्रदर्शन अच्छा है। प्रख्यात अर्थशास्त्री प्रोफेसर केएन राज कहते हैं: 'जापान को आमतौर पर एक ऐसा देश माना जाता है जिसने 19वीं सदी के उत्तरार्ध और 20वीं सदी की पहली तिमाही में तेजी से विकास किया; फिर भी, 1893-1912 की अवधि में जापान में राष्ट्रीय आय की वृद्धि दर 3 प्रतिशत प्रति वर्ष से कुछ कम थी और अगले दशक में भी 4 प्रतिशत प्रति वर्ष से अधिक नहीं बढ़ी। इस तरह के मानदंडों के आधार पर भारत में पिछले डेढ़ दशक (1950-65) में हासिल की गई विकास दर निश्चित रूप से कुछ संतोष की बात है।' इससे भी महत्वपूर्ण बात यह है कि भारत में प्रति व्यक्ति आय में भी ऐसी ही प्रभावशाली वृद्धि होती है। औपनिवेशिक काल में, प्रति व्यक्ति आय की वृद्धि या तो शून्य थी या बहुत कम थी, जो 1820 और 1913 के बीच अमेरिका, जापान और यूरोप के स्वतंत्र देशों से काफी नीचे रही। उपनिवेशवाद के पूर्ण प्रभाव के बाद औपनिवेशिक शासन के अंतिम दशकों में, भारत में प्रति व्यक्ति आय वास्तव में 1913-50 के बीच 0.22 प्रतिशत की वार्षिक दर से घटी। दूसरी ओर, आजादी के बाद, पहले कुछ दशकों में यह सालाना 1.4 प्रतिशत की दर से बढ़ी (उपनिवेशवाद के तहत सबसे अच्छे चरण, 1870-1913 से लगभग तीन गुना तेज)। स्वतंत्रता के बाद के प्रारंभिक दशकों में उपनिवेशवाद की असंरचना (un-structuring) ने प्रति व्यक्ति*

आय में बहुत तेज वृद्धि का आधार तैयार किया, जो अगले तीस वर्षों में, 1973-2001 तक 3.01 प्रतिशत वार्षिक रही (यह दर पश्चिमी यूरोप, अमरीका या जापान द्वारा हासिल की गई दर से काफी अधिक थी) और 2003-04 से 2006-07 के बीच आश्चर्यजनक रूप से 7 प्रतिशत रही (यह 2006-07 में 8 प्रतिशत से अधिक थी), जो जापान द्वारा 1950-73 के बीच हासिल की गई विस्फोटक दरों (हालांकि बहुत ही विशेष परिस्थितियों में) के बराबर थी। ... पूंजी निर्माण की दर, जो आर्थिक विकास की कुंजी है, औपनिवेशिक काल के दौरान बहुत धीमी गति से बढ़ी। वास्तव में भारत में जो कुछ निवेश किया गया था, उसका बराबर या उससे अधिक अनुपात भारत ब्रिटेन को अपव्यय या नजराने के रूप में दे कर खो रहा था। ... अगर हम औपनिवेशिक पूंजी विनियोजन को नज़रअंदाज़ भी कर दें, जिसे शुरुआती राष्ट्रवादियों ने drain कहा था, तो हम पाते हैं कि औपनिवेशिक शासन के आखिरी पचास सालों (1901-46) में अर्थव्यवस्था में सकल पूंजी निर्माण सालाना जीडीपी के 6 से 7 प्रतिशत के आसपास रहा, जबकि आज़ादी के बाद के पहले पचास सालों में पूंजी निर्माण की दर लगातार और तेज़ी से बढ़ी। 1955 और 1970 के बीच यह औपनिवेशिक दर से दोगुना था, जो 2005-06 में 33.8 प्रतिशत की दर पर पहुंच गया, जो औपनिवेशिक दर से लगभग पाँच गुना ज़्यादा था। कुछ बुनियादी ढाँचे और सामाजिक लाभों की उपलब्धता में भी प्रति व्यक्ति तेज़ी से वृद्धि हुई क्योंकि आज़ादी के तुरंत बाद आबादी की तुलना में ये लाभ कई गुना तेज़ी से बढ़े। 1950-51 की तुलना में 1965-66 में बिजली की स्थापित क्षमता 4.5 गुना अधिक थी, बिजली से लैस कस्बों और गांवों की संख्या चौदह गुना अधिक थी, अस्पताल के बिस्तरों की संख्या 2.5 गुना अधिक थी, स्कूलों में नामांकन तीन गुना से थोड़ा कम था और सबसे महत्वपूर्ण बात यह है कि डिग्री और डिप्लोमा स्तर पर तकनीकी शिक्षा (इंजीनियरिंग और प्रौद्योगिकी) में प्रवेश क्षमता क्रमशः 6 और 8.5 गुना अधिक थी। यह तब हुआ जब इस अवधि में जनसंख्या में केवल 37.3 प्रतिशत की वृद्धि हुई।"

आंकड़ों के लिहाज से उपरोक्त उद्धरण से प्राप्त सूचनाएं काफी महत्वपूर्ण हैं जो बताता है कि नेहरू-युग की नियंत्रणकारी अर्थव्यवस्था क्यों जरूरी थी और किस तरह उसके माध्यम से भारत में विकसित स्तर की पूंजीवादी व्यवस्था ने आकार ग्रहण किया। आदित्य मुखर्जी आगे यह खुलकर बताते हैं कि किस प्रकार नेहरू-युग की नीतियों के माध्यम से हुए विकास ने आगे चलकर वित्त पूंजी की पीएलजी (प्राइवेटाइजेशन, लिबरलाइजेशन, ग्लोबलाइजेशन, जो नई आर्थिक नीतियों के सार हैं) नीति को दोनों हाथों से पकड़ने का बड़ा अवसर प्रदान किया। वे बड़ी सफाई से कहते हैं - *"नेहरू के नव-उपनिवेशवादी, नवउदारवादी आलोचक, जैसे तीर्थंकर रॉय और मेघनाद देसाई, स्वतंत्रता के बाद हुई इस बड़ी सफलता को नजरअंदाज करते हैं, जिसके परिणामस्वरूप संरचनात्मक परिवर्तन हुए... साथ ही, वे वैश्विक संरचनात्मक संदर्भ को देखने में भी विफल हो जाते हैं जब वे नेहरू को स्वतंत्रता के बाद 1991 के बाद की आर्थिक रणनीति नहीं अपनाने के लिए दोषी ठहराते हैं। यदि 1991 के बाद की रणनीति 1950 के दशक में अपनाई गई होती, तो भारत निश्चित रूप से एक 'बनाना रिपब्लिक' बन गया होता। इसी तरह से, 1990 के दशक में, जब भारतीय अर्थव्यवस्था सहित वैश्विक अर्थव्यवस्था की प्रकृति में बुनियादी बदलाव हो गये हैं, 1950 की आर्थिक रणनीति का कोई मतलब नहीं होगा।"*

इस तरह नेहरू के इतने बड़े समर्थक यह साफ-साफ कहते हैं कि किस तरह नेहरू-युग की आर्थिक नीतियों ने ही आज की नई आर्थिक नीतियों की दूरदेशी से नींव रखी थी। यानी, नेहरू भी आज होते तो वे भी नई आर्थिक नीतियों का ही अनुसरण करते। वे आगे कहते हैं – *"नेहरूवादी युग ने विरासत में मिली औपनिवेशिक संरचना के कई पहलुओं को बदलकर यानी un-structuring करके* [और साथ ही साथ कृषि-संरचना में पूंजीवादी विकास के प्रशियाई जमींदार-बुर्जुआ मार्ग के माध्यम से पूर्व-पूंजीवादी संरचनाओं को बदलकर यानी un-structuring करके, जिसे वे बल-प्रयोग के बिना किया गया भूमि सुधार और यहां तक कि सामूहिकीकरण कहते हैं - लेखक] *भविष्य के 'खुलेपन' और विकास के लिए परिस्थितियां निर्मित की।"* उन्होंने आगे और बेबाकी से कहा है - *"अन्य उत्तर-औपनिवेशिक देशों को भी खुलने से (opening up) पहले तीस से चालीस साल तक इस तरह की अव्यवस्था (un-structuring) की आवश्यकता थी। 1970 के दशक के अंत में डेंग द्वारा किया गया खुलापन (opening up) संभव होने से पहले चीन को माओवादी दौर से गुजरना पड़ा था। आज का भारत स्वतंत्रता के बाद के शुरुआती दशकों में नेहरूवादी आम सहमति (consensus) द्वारा रखी गई नींव के कारण संभव हुआ है; ना कि इसके बावजूद।"* एक नेहरू समर्थक के मुंह से ही नेहरू-युग के नीतियों के विशुद्ध पूंजीपक्षीय विशेषताओं व चरित्र के बारे में इससे बेहतर स्वीकारोक्ति और क्या हो सकती है?

आइए, कुछ और आंकड़ों को लें। जहां तक कृषि में विकास के साथ-साथ शोध और आविष्कार के माध्यम से ज्ञान में क्रांति का सवाल है, वे लिखते हैं - *"औपनिवेशिक शासन के दौरान भारतीय कृषि स्थिर हो गई थी और यहां तक कि इसमें गिरावट भी आई थी। 1911-41 के दौरान प्रति व्यक्ति कृषि उत्पादन वास्तव में 0.72 प्रतिशत प्रति वर्ष की दर से गिरा। प्रति व्यक्ति खाद्यान्न उत्पादन में और भी अधिक तेजी से, यानी 1.14 प्रतिशत प्रति वर्ष की गिरावट आई, यानी इस पूरी अवधि में 29 प्रतिशत की गिरावट। इसलिए कोई आश्चर्य नहीं कि स्वतंत्रता के समय भारत को तीव्र खाद्यान्न कमी और कई क्षेत्रों में अकाल की स्थिति का सामना करना पड़ा था। 1946 और 1953 के बीच चौदह मिलियन टन खाद्यान्न आयात करना पड़ा था। यदि भारत अपने अस्तित्व के लिए खाद्य सहायता पर निर्भर होता तो संप्रभुता* [हालांकि जहां तक संप्रभुता का सवाल है इसे साम्राज्यवाद के युग के सापेक्ष देखना चाहिए - लेखक] *की कोई जगह ना होती। भारतीय कृषि में क्रांति की आवश्यकता थी और नेहरू ने युद्ध स्तर पर इस कार्य को हाथ में लिया। जैसा कि नेहरू ने 15 दिसंबर 1952 को संसद में स्पष्ट रूप से कहा था: 'हम निश्चित रूप से उद्योग को महत्व देते हैं, लेकिन वर्तमान संदर्भ में हम कृषि और खाद्य तथा कृषि से संबंधित मामलों को कहीं अधिक महत्व देते हैं। अगर हमारी कृषि की बुनियाद मजबूत नहीं है तो हम जो उद्योग खड़ा करना चाहते हैं उसका आधार भी मजबूत नहीं होगा। इसके अलावा, आज देश में स्थिति ऐसी है कि अगर हमारा खाद्यान्न मोर्चा दरका तो बाकी सब भी दरक जाएगा। इसलिए हमें अपने खाद्यान्न मोर्चे को किसी हाल में कमजोर नहीं करना चाहिए। अगर हमारी कृषि मजबूत हो जाती है,*

जैसा कि हम उम्मीद करते हैं, तो हमारे लिए औद्योगिक मोर्चे पर तेजी से प्रगति करना अपेक्षाकृत आसान होगा, जबकि अगर हम केवल औद्योगिक विकास पर ध्यान केंद्रित करते हैं और कृषि को कमजोर स्थिति में छोड़ देते हैं तो हम अंततः उद्योग को कमजोर कर देंगे। इसीलिए कृषि और खाद्यान्न पर प्राथमिक ध्यान दिया गया है और मुझे लगता है कि वर्तमान समय में भारत जैसे देश में यह आवश्यक है।"

हालांकि मुखर्जी के आशय से कोई असहमत हो सकता है, लेकिन नेहरू के विचार के बारे में उनका यह स्पष्ट बयान कि वे कृषि में पूंजीवादी विकास की कल्पना कैसे करते हैं, बहुत प्रशंसनीय है। देखिए वे क्या कहते हैं - *"नेहरू ने भारत में भूमि सुधारों के अत्यंत कठिन कार्य को आगे बढ़ाया... सोवियत संघ और चीन में जबरन किए गए भूमि सुधारों, जिसमें लाखों लोगों की जान चली गई, या जापान में सेना के कब्जे के तहत किए गए भूमि सुधारों के विपरीत यह एक उल्लेखनीय उपलब्धि थी* [यह उन लोगों के लिए है जो नेहरू के भारत में समाजवाद देखते हैं - लेखक] *1952 में, उन्होंने अपनी पार्टी के सामने घोषणा की: 'देश के सामाजिक और आर्थिक ढांचे में शांतिपूर्ण और सहयोगात्मक रूप से आवश्यक बदलाव लाने के इस कार्य के लिए, कांग्रेस को अब अपनी पूरी ताकत से खुद को संबोधित करना चाहिए... जबकि राष्ट्र को सभी मोर्चों पर आगे बढ़ना चाहिए, लेकिन तत्काल कार्य ज़मींदारी, जागीरदारी ... भूमि स्वामित्व की ऐसी प्रणालियों को समाप्त करना है, और इस प्रकार भारत में कृषि क्रांति को आगे बढ़ाना है।"* [भारत की कृषि में पूंजीवादी विकास का वही जमींदार-पूंजीपति मार्ग जो वास्तव में क्रांति तो कतई नहीं थी - लेखक]

मुखर्जी आगे कहते हैं - *"1957 तक 150 साल से भी पुरानी जमींदारी प्रथा की कमर टूट चुकी थी।* [यह आंशिक रूप से सच है, यानी पूरी तरह सच नहीं है। जहां तक बिचौलिये का सवाल है उनकी सरकार ने इसका उन्मूलन कर दिया था। लेकिन जमींदारी प्रथा सिर्फ यही नहीं थी। यह प्रथा इस रूप में टूटी कि उनकी सरकार ने उन्हीं पुराने जमींदारों को मुआवजे के तौर पर बड़ी रकम देकर पूंजीवादी जमींदारों व बड़े किसानों में बदल दिया, जिसका मतलब यह था कि कृषि में इसके अवशेष, बाह्य आवरण के साथ अंतर्य दोनों में बहुत दिनों तक बने रहे और इस तरह पुरानी जमींदारी प्रथा आधारित सामंती संबंधों को एकमात्र धीरे-धीरे और शनैः शनैः तोड़ने का रास्ता लिया गया जिससे गरीब देहाती आबादी पर अनकहे दुखों के पहाड़ टूटे - लेखक] *सहकारी और संस्थागत ऋण ने साहूकारों की पकड़ को काफी कमजोर कर दिया। ऐसी संस्थाओं द्वारा दिए गए ऋण में पंद्रह गुना से भी ज्यादा की वृद्धि हुई, जो 1950-51 में 0.23 बिलियन (23 करोड़ रुपये) रुपये से बढ़कर 1965-66 में 3.65 बिलियन (365 करोड़ रुपये) रुपये हो गए* [लाभ उठाने वाले ज्यादातर मध्यम और अमीर किसान थे, जिनकी संख्या पूंजीवादी कृषि के एजेंट के रूप में इस रास्ते से बढ़ाने की कोशिश की गई - लेखक]*। ऐसे संस्थागत सुधारों के साथ-साथ वैज्ञानिक कृषि अनुसंधान, सिंचाई और बिजली परियोजनाओं में भी बड़े निवेश किये गये। नेहरू ने कृषि और उद्योग के बीच कोई झूठा विरोधाभास नहीं पैदा किया। इस बात को भली-भांति समझते हुए कि औद्योगिक और ढांचागत परिवर्तन अर्थात बिजली, ट्रैक्टर, पंप, रासायनिक उर्वरक आदि के बिना कृषि परिवर्तन संभव नहीं है, उन्होंने कृषि सुधारों के साथ-साथ औद्योगिक परिवर्तन पर भी जोर दिया। उदाहरण के लिए, 1950 से 1965 के बीच उनके मार्गदर्शन में बिजली उत्पादन में 1300 प्रतिशत से अधिक की वृद्धि हुई। संस्थागत परिवर्तनों (भूमि सुधार) और बड़े पैमाने पर राज्य प्रायोजित तकनीकी परिवर्तन के संयोजन ने भारतीय कृषि को तेजी से परिवर्तित किया। पहली तीन योजनाओं के दौरान (अकाल के वर्ष 1965-66 को छोड़कर), भारतीय कृषि 3 प्रतिशत से अधिक की वार्षिक दर से बढ़ी, जो भारत में उपनिवेशवाद के अंतिम चरण की आधी सदी (1891-1946) के दौरान हासिल की गई 0.37 प्रतिशत की वार्षिक वृद्धि दर से आठ गुना अधिक थी।"*

कुल मिलाकर इसमें जो वर्णन है वह इस बात की तस्दीक करता है कि जो भूमि सुधार और कृषि सुधार हुए उनका चरित्र जमींदार-पूंजीपति पक्षीय था और इसके मूल में पुराने जमींदारों को ही आधुनिक कृषि का मुख्य एजेंट बनाना था।

वे आगे कहते हैं – *"कभी-कभी नेहरू की तुलना उनके उत्तराधिकारी लाल बहादुर शास्त्री से करने की कोशिश की जाती है, जिन्हें अपने बहुत ही छोटे कार्यकाल में हरित क्रांति की रणनीति शुरू करने का श्रेय दिया जाता है। लेकिन वास्तविकता इससे कुछ अलग है। यह स्पष्ट था कि पचास के दशक के अंत और साठ के दशक की शुरुआत में, भारतीय परिस्थितियों में किए जा सकने वाले भूमि सुधारों से लाभ चरम पर पहुंचने लगे थे और कृषि के विस्तार, यानी अधिक क्षेत्र को खेती में लाने के आधार पर कृषि विकास की संभावनाएं भी अपनी सीमा तक पहुंचने लगी थीं। इसलिए, नेहरू का ध्यान अनिवार्य रूप से तकनीकी समाधानों की ओर चला गया। यहां तक कि हरित क्रांति से जुड़ी नई कृषि रणनीति, जिसमें पैकेज कार्यक्रम (आईएडीपी या गहन कृषि जिला कार्यक्रम) के साथ गहन विकास के लिए कुछ प्राकृतिक लाभ वाले चुनिंदा क्षेत्रों को चुना गया था, को नेहरू के जीवनकाल में तीसरी पंचवर्षीय योजना के दौरान प्रायोगिक आधार पर पंद्रह जिलों में शुरू किया गया था, प्रत्येक राज्य के लिए एक-एक। यह एक अभ्यास था जिसे कुछ वर्षों बाद बड़े पैमाने पर सामान्यीकृत किया जाना था। जैसा कि हरित क्रांति के प्रमुख विद्वानों में से एक, जीएस भल्ला ने कहा: 'भारत में गुणात्मक तकनीकी परिवर्तन - हरित क्रांति ... उनके जीवनकाल में नहीं बल्कि उनकी मृत्यु के तुरंत बाद हुई। लेकिन तकनीकी विकास की नींव नेहरू के समय में रख दी गई थी।' इस प्रकार नेहरू ने न केवल भारतीय कृषि में प्रमुख संस्थागत सुधार (भूमि-सुधार) किए, बल्कि उन्होंने तकनीकी सुधारों की नींव भी रखी, जो 'हरित क्रांति' का आधार था, जिसने भारत को उल्लेखनीय रूप से कम समय में खाद्य अधिशेष वाला देश बना दिया। कोई आश्चर्य नहीं होता जब स्वतंत्रता के बाद से भारतीय कृषि के सबसे उत्सुक पर्यवेक्षकों में से एक डैनियल थॉर्नर कहते हैं: 'कभी-कभी यह कहा जाता है कि (प्रारंभिक) पंचवर्षीय योजनाओं ने कृषि की उपेक्षा की। इस आरोप को गंभीरता से नहीं लिया जा सकता। तथ्य यह है कि भारत की स्वतंत्रता के पहले इक्कीस वर्षों में कृषि में बदलाव को बढ़ावा देने के लिए अधिक काम किया गया और वास्तव में पिछले दो सौ वर्षों की तुलना में अधिक बदलाव हुए हैं।'* ('नेहरुज़ इंडिया', अध्याय 6: लोकतंत्र और संप्रभुता के साथ आर्थिक विकास) □

अंतर्राष्ट्रीय महिला दिवस के अवसर पर

फासीवादी दौर में महिलाओं पर बढ़ता उत्पीड़न और महिला मुक्ति का प्रश्न

■ पी आर सी, सीपीआई (एम एल)

30 दिसंबर 2024 को आसनसोल बार एसोसिएशन हॉल, पश्चिम बर्धमान, पश्चिम बंगाल में कॉमरेड सुनील पाल की 15वीं शहादत वर्षगांठ के अवसर पर पीआरसी, सीपीआई (एमएल) तथा इफ्टू (सर्वहारा) द्वारा उपर्यक्तु विषय पर आयोजित केंद्रीय कन्वेंशन में पेश आधार पत्र।

मूल दस्तावेज़ अग्रेंजी में है जिसका यह हिंदी में अनुवादित संस्करण है।

भूमिका

हाल के दिनों में महिलाओं पर होने वाले हमले बड़े पैमाने पर बढ़ रहे हैं।[1] इसके साथ ही समाज में पितृसत्ता भी तेजी से पैठ बना रही है। फासीवाद के सत्ता में आने के साथ ही दोनों ही सबसे विकृत रूपों में बढ़ रहे हैं। इसके अलावा, जो नए संकेत मिल रहे हैं वो भी काफी चिंताजनक और परेशान करने वाले हैं। **फ्रंटलाइन** के हालिया संपादकीय नोट में खुलासा किया गया है कि बलात्कार के साथ पोर्नोग्राफी को जोड़ने का चलन चल रहा है।[2] इसमें कहा गया है,

"कोलकाता की घटना के बाद, भारत के लिए गूगल ट्रेंड्स डेटा ने पीड़िता के बलात्कार के वीडियो और पोर्नोग्राफ़ी साइटों पर उसके नाम की खोजों में कथित तौर पर वृद्धि दिखाई, यह परिघटना 2019 में भी सामने आई थी जब हैदराबाद में एक महिला पशु चिकित्सक के साथ बलात्कार किया गया और उसकी हत्या कर दी गई थी। इसमें निहित दृश्यरतिकता (voyeurism) अपने आप में अस्वस्थ है, लेकिन इसमें यह भी जोड़ दें कि "बलात्कार" और "पोर्नोग्राफी" को आपस में जोड़ कर देखा जा रहा है तो हम वास्तव में एक बहुत ही बीमार समाज को देख रहे हैं।"

नोट में यह भी कहा गया है –

"संस्कृति, गीत, मीम्स, चुटकुले या अर्जुन रेड्डी और एनिमल जैसी फिल्मों के माध्यम से, महिलाओं के खिलाफ हिंसा और हिंसा के प्रेम का चरम रूप होने के भयावह विचार को नियमित रूप से महिमामंडित करती है। अगर हम मनोवैज्ञानिक अल्बर्ट बांडुरा के इस आधार को लागू करें कि मनुष्य अवलोकन के माध्यम से व्यवहार सीखते हैं, जो वे देखते और सुनते हैं, उससे सीखते हैं, तो यह स्पष्ट है कि बलात्कार को स्वीकार्य व्यवहार के रूप में कितनी आसानी से सीखा जाता है - शराब पीने वाले दोस्तों से, रेप पोर्न और बलात्कार के चुटकुलों के फॉरवर्ड से, महिलाओं को नीचा दिखाने वाली फिल्मों की बाढ़ से, और उन घरों में जहां महिलाओं को पारंपरिक रूप से नजरअंदाज किया जाता है। यह प्रवृत्ति विशेष रूप से उन समाजों में देखी जाती है जो युद्ध संस्कृति और मर्दाना दिखावेबाजी में आनंद लेते हैं, जो आज भारतीय परिवेश में आम हो गया है।"

दिल्ली में 16 दिसंबर 2012 को निर्भया बलात्कार की घटना के बाद भी इसी तरह के शोध-आधारित तथ्य सामने आने लगे थे, जिससे पता चलता था कि बलात्कारी इतनी बर्बरता क्यों करते हैं।[3] इसमें दृश्यरतिकता (voyeurism) की भावना अंतर्निहित है, इसलिए यह हमारे समाज में बहुत गहरी सड़न - पूर्ण सामाजिक-सांस्कृतिक विघटन और नैतिक-वैचारिक पतन[4] - का संकेत है। इसलिए हमने देखा कि निर्भया कांड के व्यापक विरोध के बाद भी हिंसक बलात्कार की ऐसी वीभत्स घटनाओं में

कोई कमी नहीं आई; तब भी जब इन विरोधों की आग पूरी तरह से ठंडी नहीं पड़ी थी।[5]

बेशक, इसमें कोई संदेह नहीं है कि यह पतनशील, परजीवी और भ्रष्ट पूंजीवाद के लगभग पूर्ण क्षय द्वारा पैदा हुआ है और प्रतिदिन पैदा हो रहा है, और यह इस तथ्य का परिणाम है कि आज के सड़े हुए पूंजीवाद और उसके व्यापक बाजार ने, अपने सुपर मुनाफे की खोज में शुरुआत से ही पूंजी के चहेते टार्गेट 'श्रम' के अलावा, महिला शरीर पर भी अपना निशाना साध लिया है। फलता-फूलता पोर्नोग्राफी बाजार और कुछ नहीं बल्कि इसका ही परिणाम है, जिसका खतरा विशेष रूप से बढ़ते फासीवादी आक्रमण के समय में स्पष्ट दिखाई पड़ता है।

इसके अलावा, हमें यह स्वीकार करना चाहिए कि पितृसत्ता के खिलाफ संघर्ष जब तब दिखाई देते हैं, खासकर तब जब वीभत्स बलात्कार की कोई विशेष घटना हमारे दिलोदिमाग पर गहरा प्रभाव डालती है, लेकिन ऐसा कोई संघर्ष देखने को नहीं मिलता है जो समाज में इस सड़ांध और इस सड़ांध के मूल कारण पर हमला करता हो। यहां तक कि अगर इसके खिलाफ संघर्ष होता भी है, तो अक्सर उसमें यह भुला दिया जाता है, शायद नारीवाद के प्रभाव में, कि ऐसा सामाजिक-सांस्कृतिक और नैतिक पतन केवल एक सामाजिक-सांस्कृतिक और नैतिक परिघटना नहीं है। इसके पीछे संकटग्रस्त एकाधिकार पूंजी के हित काम करते हैं जो इस दुनिया को महिलाओं के साथ-साथ पूरी मानवता के लिए नरक बनाने पर आमादा है। यहां तक कि पितृसत्ता के खिलाफ तथाकथित संघर्षों में भी यह बात भुला दी जाती है कि मौजूदा लैंगिक संबंधों के खिलाफ लड़ाई दरअसल बुर्जुआ निजी संपत्ति पर आधारित शोषण और उत्पीड़न की व्यवस्था के खिलाफ लड़ाई है, और इसलिए पितृसत्ता के खिलाफ लड़ाई को पूंजीवाद-साम्राज्यवाद को उखाड़ फेंकने और नए सामाजिक संबंधों पर समाज का पुनर्गठन करने की लड़ाई से जोड़ना होगा, जो ही पितृसत्ता को हमेशा के लिए खत्म करेगा। तभी इसके सामाजिक-सांस्कृतिक प्रभावों और साथ ही इसके साथ जुड़े नैतिक-वैचारिक पतन और गिरावट से निर्णायक रूप से और सफलतापूर्वक लड़ा जा सकेगा।

पितृसत्ता और फासीवाद

फासीवाद के तहत बढ़ते पितृसत्ता की जड़ें पितृसत्तात्मक दृष्टिकोण में हैं जो 19वीं सदी में फ्रांस में प्रचलित 'राष्ट्र' के उदार और लोकतांत्रिक दृष्टिकोण में मौजूद है, जिसके अनुसार *"फ्रांस के वैयक्तिक (पुरुष) निवासियों के तर्कसंगत हितों की अभिव्यक्ति ही राष्ट्र था।"*[6] कार्डिफ़ विश्वविद्यालय के प्रोफेसर केविन पासमोर के अनुसार, पहला "राष्ट्रीय समाजवादी" (नेशनल सोशलिस्ट) फ्रांसीसी उपन्यासकार मौरिस बार्स थे। उन्होंने और बाद के दिनों में फासीवाद और नाज़ीवाद के अनुयायियों ने राष्ट्र के उपरोक्त उदार जनवादी दृष्टिकोण को अस्वीकार कर दिया, लेकिन पूरी तरह से नहीं। उन लोगों ने इस उदार जनवादी दृष्टिकोण का पितृसत्तात्मक पक्ष *(जिसके अनुसार राष्ट्र वैयक्तिक पुरुष निवासियों के तर्कसंगत हितों की अभिव्यक्ति था)* को स्वीकार किया और इस पर नस्लवादी आक्रामक राष्ट्रवाद के अपने विचार और दर्शन का निर्माण किया। मुसोलिनी के लिए यह स्वायत्तता (औतार्की)-आधारित राष्ट्रवाद या राष्ट्रीय क्रांति थी, जबकि हिटलर के लिए यह राष्ट्रीय समाजवाद था जिसका अर्थ है निर्लज्ज सुजननवादी (eugenicist) नस्लवादी राष्ट्रवाद।

हालांकि, इटली का बेनिटो मुसोलिनी ही था जिसने पहली बार फासीवाद के विचार को उसके निष्क्रिय चरण से राष्ट्रीय स्तर पर व्यवहार के क्षेत्र में उतारा और समाज में पुरुष वर्चस्ववाद को एक विशिष्ट पितृसत्ता के रूप में समेकित और संस्थागत किया। *एक नए प्रकार की समझौताविहीन क्रांति के लिए मजबूत इच्छाशक्ति और कार्रवाई करने वाले व्यक्तित्व के रूप में* खुद को पेश करना इसमें उसके लिए काफी मददगार साबित हुआ। ब्लैकशर्ट फासीवादी आंदोलन से शुरू होकर, जिसने मुसोलिनी को इटली का प्रधानमंत्री बनाने के लिए अक्टूबर 1922 को 'रोम पर मार्च' का आयोजन किया, फासीवादियों ने उपर्युक्त समझौताविहीन राष्ट्रीय स्वायत्त क्रांति की लहरों पर सवार होकर एक फासीवादी पितृसत्तात्मक अधिनायकवादी राष्ट्रवादी राज्य की स्थापना की जिसने महिलाओं को दोयम दर्जे का नागरिक बना दिया। इसके अनुसार महिलाओं को मुख्य रूप से रसोई के कमर तोड़ परिश्रम वाले काम सहित अन्य घरेलू कामकाज और इससे सीधे जुड़े खेती के काम तक खुद को सीमित रखना था। इसके लिए मुसोलिनी ने खाद्य स्वायत्तता का नारा

दिया।

हालांकि, 1929 में शुरू हुए आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक संकट के दौरान नाज़ीवाद की सफलता, जनवरी 1933 में हिटलर के नए चांसलर के रूप में सत्ता में आना, और फिर अंततः अंतिम राइकस्टैग के क्रोल ओपेरा हाउस सत्र के साथ जिसमें हिटलर ने तत्कालीन राष्ट्रपति पॉल हिंडेनबर्ग के समर्थकों से राइकस्टैग की स्वीकृति के बिना कानून बनाने की शक्ति छीन ली, इस आश्वासन पर कि उनकी स्थिति और साथ ही राइकस्टैग के अस्तित्व को कोई खतरा नहीं होगा, 1890 के दशक में फ्रांस में शुरू हुआ फासीवादी आंदोलन वास्तव में वह बन गया जो वह था। वह कानून जिसने हिटलर को संविधान विरोधी कानून भी बनाने की शक्ति दी, उसे *एनेब्लिंग* कानून के रूप में जाना जाता था। इसने अपने सबसे नग्न रूप में नस्लवादी फासीवादी तानाशाही की नींव रखी। उसके बाद सब कुछ फ्यूहरर की इच्छा पर निर्भर था, जिसने सबसे खराब प्रकार के नस्लीय पुरुषवादी फासीवादी राज्य के निर्माण का मार्ग प्रशस्त किया। इससे पहले नाजी आंदोलन द्वारा एक नस्लीय यूटोपिया बनाया गया, जिसने एक नस्लीय स्वप्न के निर्माण को जन्म दिया, जिसमें सबसे पहले सबसे शक्तिशाली जर्मन आर्यन नस्ल बनाने के लिए अंतहीन प्रयास शामिल था और जिसके लिए जरूरी था कि महिलाओं को केवल मातृत्व के दर्जे में बांधकर उन्हें उनके छोटे से क्षेत्र, घर, तक सीमित कर दिया जाये। उन्हें जर्मन आर्यन नस्ल की भावी सबसे शुद्ध और सबसे शक्तिशाली पीढ़ियों को जन्म देने और पालने का कार्य सौंपा गया। महिलाओं के जिम्मे यही मुख्य कार्यभार था । इसने जर्मनी की धरती से यहूदियों और स्लावों (Slavs) को पूरी तरह से खत्म करने और नाजियों और उनके स्वामी हिटलर के नेतृत्व में सबसे नस्लवादी जर्मन साम्राज्य के तहत अन्य सभी 'निम्न' नस्लों को अधीन करने के सबसे वहशी और सबसे अमानवीय प्रयासों को जन्म दिया। यह अंततः द्वितीय विश्व युद्ध का कारण बना, जिसमें हालांकि इसे अंततः 1945 में सोवियत यूनियन और उसके अंतरराष्ट्रीय सहयोगियों द्वारा पराजित किया गया। लेकिन तब तक यह मुख्य रूप से जर्मनी, सोवियत यूनियन और यूरोप - जो कि फासीवादी विजय युद्ध का मुख्य रंगमंच था - में असीमित तबाही और विनाश का कारण बन चुका था।

लेकिन 1990 के दशक के उत्तरार्ध से ही फासीवाद धीरे-धीरे दुनिया के विभिन्न हिस्सों में अपने पैर पसारने में सफल रहा है।[7] इसका नतीजा यह है कि 21वीं सदी के तीसरे दशक में हम एक बार फिर इस राक्षस के आमने-सामने खड़े हैं। हम इसे अलग-अलग देशों में बुर्जुआ संसदीय प्रणाली का उपयोग करके चुनाव जीतकर सत्ता में आते हुए देख सकते हैं। भारत में भी यही हो रहा है जहां बुर्जुआ संसदीय प्रणाली से चुनाव जीत कर सत्ता में आने के बाद फासीवादियों ने उसी प्रणाली को सांप्रदायिक-जातीय-नस्लीय घृणा-आधारित राष्ट्रवादी अभियानों की मदद से अपने कब्जे में कर लिया है और इस तरह के अभियानों से बुर्जुआ लोकतंत्र की नींव को वे दिन-प्रतिदिन नष्ट कर रहे हैं, और दूसरी तरफ विभिन्न प्रकार के आक्रामक सांप्रदायिक नैरेटिव चला कर विपक्षी बुर्जुआ दलों को ध्वस्त कर रहे हैं और उनके हिंदू जनाधार को उनसे छीन रहे हैं। और यह तब हो रहा है, जैसा कि केविन पासमोर ने सही कहा है, जब फासीवाद अभी भी "दुर्व्यवहार के लिए एक सर्व-उद्देश्यीय शब्द" है। आज भी यह मर्दानगी की (माचो) शैली अपनाता है, फिर भी यह महिलाओं को आकर्षित करता है। यह पुरुषों और महिलाओं को पुरानी परंपराओं का पालन करने के लिए कहता है, फिर भी यह उन्हें आकर्षित करता है। यह अनुशासन के नाम पर हिंसा फैलाता है, फिर भी शांतिप्रिय मध्यम वर्ग के लोग भी बाहरी और आंतरिक शत्रुओं से राष्ट्रीय सुरक्षा के नाम पर इसका अनुसरण करते हैं।

पितृसत्ता के दृष्टिकोण से देखा जाए तो, जैसा कि केविन पासमोर लिखते हैं, फासीवाद वास्तव में सामंती पितृसत्ता और वित्तीय पूंजी के सबसे प्रतिक्रियावादी तत्वों द्वारा फैलाई गई पितृसत्ता का मिलन बिंदु है। इसलिए फासीवाद को इतिहास का पश्चगमन भी कहा जाता है, जिसका रुख मध्ययुगीनता, धर्मतंत्रवाद और राजतंत्रवाद की ओर होता है, लेकिन इसका नेतृत्व वित्तीय पूंजी करती है। इसलिए हम फासीवाद में आधुनिकता-विरोधी सामंती हितों और आधुनिक बड़ी पूंजी के हितों को एक साथ गुंथे हुए देखते हैं। फासीवाद को न तो मध्ययुगीनता के तत्वों से और न ही पूंजीवाद के तत्वों से अलग किया जा सकता है। लेकिन यह कहना कि इसकी उत्पत्ति का आधार सामंती या बड़ा भूस्वामी वर्ग है, गलत है। इसकी उत्पत्ति का आधार निस्संदेह वित्तीय पूंजी के सबसे प्रतिक्रियावादी, सबसे आतंकवादी, सबसे अंधराष्ट्रवादी

और सबसे साम्राज्यवादी तत्वों की अति-प्रतिक्रियावादी जरूरत है।

हम जानते हैं कि वेबेरियन (समाजशास्त्री मैक्स वेबर, 1864-1920, के अनुयायी) फासीवाद के उदय के लिए पूर्व-औद्योगिक या सामंती शासक वर्गों - पूर्वी जर्मनी या इतालवी पो घाटी के बड़े भूस्वामियों, दक्षिणी स्पेन के लैतीफंडिस्टों या जापानी सैन्य जाति - को दोषी ठहराते हैं।[8] उनका तर्क था कि ये अभिजात वर्ग राष्ट्रीय इतिहास के क्रम पर अपना घृणित प्रभाव डालने में सक्षम हो पाए क्योंकि उनके देश 19वीं शताब्दी में वास्तविक बुर्जुआ और उदार-जनवादी क्रांति से नहीं गुजरे थे।[9] लेकिन ऐसा क्यों? क्योंकि इन अभिजात वर्गों ने अपने आर्थिक और सामाजिक वर्चस्व को बनाए रखा था, क्योंकि जनवादी क्रांति को नीचे से जो कार्यभार पूरा करने थे, वे वास्तव में उन देशों में ऊपर से किए गए थे, यानी प्रशियाई मार्ग या पूंजीवादी विकास के जमींदार-बुर्जुआ मार्ग के माध्यम से।[10] केविन पासमोर लिखते हैं कि - *"इन अभिजात वर्गों ने शिक्षा [पर अपने एकाधिकार] का इस्तेमाल अपने प्रतिक्रियावादी [और पितृसत्तात्मक] मूल्यों को बाकी समाज में फैलाने के लिए किया, और अपनी [प्रतिक्रियावादी] स्थिति को बनाए रखने के लिए लगातार प्रतिक्रियावादी तरीकों का सहारा लिया।"*[11] **हालाँकि, यहाँ यह ध्यान रखना ज़रूरी है कि इन अभिजात वर्गों के प्रतिक्रियावादी मूल्य वित्तीय पूँजी के उन सबसे घृणित तत्वों के प्रतिक्रियावादी मूल्यों के साथ मिल कर एक हो गए, जिन्होंने एक नग्न फ़ासीवादी तानाशाही स्थापित करने और जनतंत्र को खत्म करने के लिए मध्ययुगीनता का सहारा लिया ताकि वे अपने शासन को बरकरार रख सकें। इसी तरह, यह भी ध्यान दिया जाना चाहिए कि प्रशियाई पथ से पूंजीवादी विकास की प्रक्रिया में अपना वर्चस्व बनाए रखने वाले पूर्ववर्ती सामंती वर्ग अंततः नए ग्रामीण पूंजीपति वर्ग में बदल गए, भले ही उन्होंने अपने पुराने सामंती सांस्कृतिक और नैतिक मूल्यों को बरकरार रखा। ऐसे गंभीर संकटों के समय में, जो कई बार वर्तमान संकट की तरह ही अनुत्क्रमणीय प्रतीत होते थे, वित्तीय पूंजी के सबसे घृणित तत्वों ने यही प्रवृत्तियां दिखाईं और इस प्रकार उनके जनतंत्र-विरोधी प्रतिक्रियावादी विचारों का विलय पुराने सामंती वर्ग से कृषि पूंजीपति वर्ग में परिवर्तित हुए वर्ग के विचारों के साथ आसानी से हो गया।**[12]

वेबरियन दृष्टिकोण कुल मिलाकर एक गलत दृष्टिकोण था। हालांकि यह सच है कि इसने फासीवाद को उसके सामाजिक संदर्भ में समझने में हमारी बहुत मदद की (जैसा कि केविन पासमोर लिखते हैं), खासकर यह कि कैसे यह महिलाओं को घरों और घरों से जुड़े पेशे से बांध देता है और उन्हें रसोई तक सीमित रखता है। बाद में, फासीवाद की इस पितृसत्तात्मक प्रकृति ने यूजेनिसिज्म में अपना अंतिम गंतव्य पाया, यानी महिलाओं के मातृत्व के दर्जे को **केवल** शुद्ध नृजातीय नस्लीय राष्ट्र के पुनरुत्पादन तक सीमित रखना। यह हमें ये समझने में मदद करता है कि कैसे जर्मनी के पुराने कुलीन वर्गों ने एकाधिकारी वित्त पूंजी के कप्तानों के साथ हाथ मिलाया और साथ मिलकर हिटलर और मुसोलिनी के सत्ता में प्रवेश को संभव बनाया, जिन्होंने नस्लवादी फासीवादी तानाशाही के रूप में एक नए अभिजात वर्ग को लाया जो पुराने अभिजात वर्ग से अधिक खूंखार था। यह महिलाओं के लिए बिलकुल नरक था, हालांकि यह भी तथ्य है कि बहुत सी महिलाओं ने भी इस तानाशाही की सराहना की थी जो अपनी गहरी भावनाओं और मातृत्व के दर्जे का उपयोग एक ऐसे नृजातीय नस्लीय राष्ट्र के निर्माण में करने में गर्व महसूस करती थीं, जो शुद्ध और शक्तिशाली होगा, किसी भी वंशानुगत बीमारी और कमजोरी से मुक्त होगा।

महिलाओं के बारे में फासीवादियों के मुख्य तर्क क्या हैं? महिलाओं के बारे में फासीवादियों के मुख्य तर्क परंपरागत हैं, जो सभी परंपरागत पितृसत्तात्मक पुरुषों और महिलाओं के बीच आम तौर पर मौजूद होते हैं। उनके तर्क वही हैं जिनके बारे में जर्मन मजदूर वर्ग के महान नेता और सिद्धांतकार ऑगस्ट बेबेल ने उन लोगों की आलोचना करते हुए लिखा था, जो मानते थे कि महिला प्रश्न का सामान्य सामाजिक प्रश्न से इतर कोई अलग अस्तित्व नहीं है। उनकी आलोचना में उन्होंने लिखा –

> *"कई लोग तो यहां तक दावा करते हैं कि ...महिला की स्थिति हमेशा एक जैसी रही है और भविष्य में भी वैसी ही रहेगी, क्योंकि प्रकृति ने उसे एक पत्नी और एक मां बनने और अपनी गतिविधियों को घर तक ही सीमित रखने के लिए नियत किया है। हर वह चीज जो उसके घर की चार संकरी दीवारों से परे है और जो उसके घरेलू*

कर्तव्यों से निकटता से जुड़ी नहीं है, उससे उसे कोई सरोकार नहीं होना चाहिए।"[13]

यह विशुद्ध पूर्वाग्रह है। बेबेल लिखते हैं कि यह धारणा आदिम समाजों में महिलाओं को समाज में मिलने वाले दर्जे के बारे में अज्ञानता पर आधारित है, जो पुरुषों की तुलना में ऊँचा था। तब, महिलाएं पुरुषों के बराबर थीं। यह अज्ञानता न केवल पुरुषों में बल्कि महिलाओं में भी गहराई से व्याप्त है क्योंकि यह उन्हें पितृसत्तात्मक शासन के माध्यम से लगातार युगों से सिखाया गया है। हालाँकि, नाज़ीवाद और फ़ासीवाद ने इतिहास में किसी भी अन्य पितृसत्तात्मक विचारधारा की तुलना में अधिक ग्राह्य और श्रेष्ठतर तरीके से महिलाओं को केवल प्रजनन की वस्तु के रूप में[14] अवधारणा दी और उन्हें एक शुद्ध, स्वस्थ और श्रेष्ठ नस्ल का संरक्षक बनाकर राज्य के माध्यम से इसे संस्थागत बना दिया, जिसके कारण न केवल यहूदियों और स्लाव जैसी 'निम्न' नस्लों के खिलाफ युद्ध छेड़ा गया, बल्कि सबसे भयावह अंतर-नस्लीय युद्ध, यातना और हत्या के शिकार जर्मन नस्ल के निर्दोष पुरुष और महिलाओं को बनाया गया, जो जर्मन नस्ल के लोगों (पुरुषों, महिलाओं और यहाँ तक कि बच्चों) के भीतर "मूल्यहीन" और "मूल्यवान" श्रेणियों में विभाजन पर आधारित थी।[15] हम जानते हैं कि न केवल यहूदियों, बल्कि "मूल्यहीन" जर्मनों (पुरुषों और महिलाओं) को भी यातना शिविरों (कंसंट्रेशन कैंप) में भेज दिया गया, डेथ स्क्वाड के सामने खड़ा कर दिया गया, या नारकीय स्थितियों में मरने के लिए डाल दिया गया।[16] इतना ही नहीं, रुचिरा गुप्ता लिखती हैं कि –

"तथाकथित आर्यन नस्ल की 15 साल की लड़कियों को लेबेन्स्राम्स (छात्रावास जहाँ हिटलर यूथ द्वारा उनका बलात्कार किया जाता था ताकि वे युजेनिक्स के तहत बड़े पैमाने पर नीली आंखों व सुनहरे बालों वाले नाजी बच्चों को जन्म दे सकें) में भेज दिया जाता था। जैसे-जैसे राजनीतिक नेताओं के व्यभिचार सार्वजनिक होते गए और तलाक की दर लगातार बढ़ती गई, लेबेन्स्राम्स ने अविवाहित या परित्यक्त माताओं के लिए भी अपने दरवाजे खोल दिए।"[17]

इस संबंध में, मुसोलिनी का फासीवाद कम से कम शुरुआत में अलग था। उसने महिलाओं को घर तक सीमित कर दिया, अन्य सभी क्षेत्रों से दूर रखा, उन्हें रसोई के कामों तक सीमित कर दिया और उन्हें केवल प्रजनन की वस्तु बना दिया, लेकिन *एक सौम्य तरीके से* यानी महिलाओं को कई बच्चों की माँ और घर की एकमात्र देखभाल करने वाली के रूप में अपनी घरेलू भूमिका निभाने के लिए सक्रिय रूप से प्रोत्साहित करके, और साथ ही उन्हें खाद्य स्वायत्तता की अपनी नीति की जीत के लिए महिलाओं को *सम्मानपूर्वक* इसका जिम्मेदार बनाकर, और इस नाम पर स्वायत्त इतालवी खाद्य पदार्थों के मुख्य कुकिंग एजेंट के रूप में उन्हें राष्ट्रीय भूमिका निभाने के लिए प्रेरित कर के। इसके लिए मुसोलिनी ने उन्हें धान की फसलों की खेती को छोड़कर कारखानों, विश्वविद्यालयों और समाज के सभी अन्य क्षेत्रों से बाहर निकाल दिया। यह सब करने में उसने माँ और देखभाल करने वालों के रूप में महिलाओं के लिए जैविक रूप से निर्धारित भूमिकाओं को लागू करने हेतु परिवार और धर्म के पारंपरिक प्राधिकार का सहारा लिया। लेकिन बाद में, जब वो 1930 के दशक के अंत में हिटलर के प्रभाव में आया तो 1937 में नस्लीय अंतर्संबंध पर रोक लगाने वाले नए फासीवादी कानूनों को लागू करने के साथ उसने भी नाज़ियों के समान ही यूजेनिक्स का समर्थन करना शुरू कर दिया।[18]

इसलिए, यह फासीवाद की प्रकृति है कि सभी तरह के फासीवादी अपने अंदर अंतर्निहित स्त्री-विरोधी वहशीपन के साथ शासन करते हैं, क्योंकि वे वित्तीय पूंजी के सबसे खूंखार प्रतिक्रियावादी तत्वों के प्रतिनिधि होते हैं, जो समानता और स्वतंत्रता के स्थान पर पूर्ण नियंत्रण और वर्चस्व स्थापित करने की कोशिश करते हैं और इसलिए ऐतिहासिक पश्चगमन की ओर एक सामान्य प्रवृत्ति रखते हैं, यानी समाज को चरम पितृसत्ता और मध्ययुगीन पाशविकता के दौर में वापस ले जाते हैं। इसलिए महिलाओं के अधिकारों और सम्मान पर हमले सामान्यीकृत हो जाते हैं, जिससे अक्सर बलात्कार ही नहीं, बलात्कार के साथ हत्या की घटनाएं भी आम हो जाती हैं। यह एक सामान्य घटना बन जाती है क्योंकि सदियों पुरानी पितृसत्ता की छाया में स्त्री-द्वेष और लैंगिक भेदभाव, जो कि फासीवादी विचारधारा के बढ़ते आक्रमण के समय में चरम पर पहुँच जाता है, समाज पर **हावी** हो जाता है। बलात्कार और हिंसा एक दिन-प्रतिदिन का खतरा बन जाता है। संक्षेप में कहें तो आज की स्त्री-द्वेषी राजनीति की जड़ें विश्व

पूंजीवाद के लगातार गहराते संकट की पृष्ठभूमि में हो रहे फासीवादी हमलों में हैं, जो आज के सामाजिक और सांस्कृतिक सड़ांध यानी दुनिया भर के समाज में हो रही चरम सड़ांध और क्षय के लिए जिम्मेदार है। सदियों पुरानी पितृसत्ता की छाया में, इसका स्वाभाविक निशाना महिलाएं हैं।

इसलिए हम देखते हैं कि सामाजिक-राजनीतिक आंदोलन के रूप में फासीवाद महिलाओं के लिए एक विरोधाभासी स्थिति पैदा करता है। नाजी जर्मनी में महिलाओं के उत्पीड़न का विशेष अनुभव, फासीवादी इटली की तुलना में अधिक साबित करता है कि फासीवाद (सामाजिक - राजनीतिक आंदोलन के रूप में) महिलाओं को न केवल अपना शिकार बनाता है, बल्कि अपना सहयोगी बना कर उन्हें खुद के साथ और जर्मन नस्ल की 'बेकार' या 'निम्न' नस्ल की किसी भी महिला के खिलाफ हिंसा का अपराधी भी बनाता है। नतीजतन, इसने महिलाओं को "आज्ञाकारिता के साथ-साथ ताकत की लालसा" की ओर अग्रसर किया, जैसा कि क्लाउडिया कून्ज़ ने अपनी पुस्तक *मदर्स इन द फादरलैंड (1987)* में उल्लेख किया है। यह सही कहा गया है कि *"जर्मन इतिहास में कभी भी किसी राजनीतिक पार्टी में इतनी सारी महिलाएँ शामिल नहीं हुईं, और कभी भी किसी पार्टी ने महिलाओं को इतना अपमानित नहीं किया जितना कि नेशनल सोशलिस्ट पार्टी"* यानी नाज़ी पार्टी ने किया (जुर्गन कुचीन्सकी, ibid)। महिलाओं में गहरी आंतरिक प्रवृत्ति के रूप में अंतर्निहित मातृत्व, भावना और आत्म-संरक्षण के सार्वजनिक कल्ट के बारे में सदियों पुराने लोकप्रिय पूर्वाग्रहों का फायदा उठाने में फासीवादी माहिर हैं। इससे महिलाओं के बीच फासीवादी लोकप्रिय हो गए, जबकि उन्होंने शुरू से ही महिलाओं को सार्वजनिक जीवन से बाहर करने और उन्हें निजी क्षेत्र तक सीमित रखने की घोषणा की थी। इसलिए इससे यह निष्कर्ष निकालना गलत नहीं है कि फासीवादी दर्शन से प्रभावित होने के बाद महिलाओं ने ही *"हिटलर की खोज की, उसे चुना और उसे आदर्श बनाया"* (जोअकिम सी. फेस्ट, ibid)। और इसके लिए इतिहास को गवाह के तौर पर पेश किया जा सकता है। इसलिए वर्तमान पितृसत्ता विरोधी महिला आंदोलन के लिए फासीवादियों की राजनीतिक चतुराई में इस विशेष क्षमता पर ध्यान देना आवश्यक है। चाहे हिटलरी नाजीवाद हो या बेनिटो मुसोलिनी का फासीवाद, दोनों ने महिलाओं की मदद से महिलाओं पर शासन किया और साथ ही ऐसे कानून बनाए जिन्होंने महिलाओं को घर से बांध दिया। दोनों ने महिलाओं को मातृत्व और अपने घर व पति की देखभाल करने वाली एक सार्वजानिक कल्ट बना दिया। एक ने पारिवारिक संरचना और उसके प्राधिकरण में अंतर्निहित महिलाओं की पारंपरिक छवि का फायदा उठा कर ऐसा किया, जबकि दूसरे ने इसे पूरी तरह से नग्न रूप में, बेधड़क किया। एक ने महिलाओं को अधिक संख्या में प्रजनन के लिए घर के अंदर रखा (फासीवादी इटली में महिलाओं को यथासंभव अधिक बच्चे पैदा करने के लिए प्रोत्साहित किया जाता था और सबसे अधिक बच्चे पैदा करने वालों को पुरस्कृत किया जाता था), जबकि दूसरे ने मात्रा और गुणवत्ता दोनों का प्रजनन करने के लिए ऐसा किया (नाजी जर्मनी में महिलाओं को नस्ल की शुद्धता को बरकरार रखने और सर्वश्रेष्ठ नस्ल का प्रजनन करने के लिए मजबूर किया गया)। संक्षेप में, फासीवादी तानाशाही की दोनों शक्तियों ने समान महिला-विरोधी राजनीति व नीतियों का अनुसरण किया।

यहाँ, प्रसिद्ध इतिहासकार, सुविरा जयसवाल, की बात सुनना प्रासंगिक है, जो बताती हैं कि जब जाति व्यवस्था को बनाए रखने का लक्ष्य होता है तब भी महिलाओं की भूमिका नाजी जर्मनी में महिलाओं की तरह ही होती है, जिन्हें वहां शुद्ध नस्ल का संरक्षक बनाया गया था, यानी नस्ल को शुद्ध और स्वस्थ रखने की जिम्मेदारी उनकी थी। हालांकि जाति और नस्ल एक दूसरे के अनुरूप नहीं हैं और इसलिए जाति के निर्माण में महिलाओं की भूमिका शुद्ध और स्वस्थ नस्लीय राष्ट्र के निर्माण में महिलाओं की भूमिका के समान है, लेकिन बराबर या एक जैसी नहीं है। हालांकि, इस तथ्य का वास्तविक सार यह है: अगर जाति और नस्ल को शुद्ध और बरकरार रखना है तो महिलाओं को जबरन पृष्ठभूमि में धकेलना होगा और घरों तक सीमित करना होगा। अपने प्रसिद्ध निबंध *सवर्ण और अवर्ण की उत्पत्ति: 'दलित' समस्या की ऐतिहासिक जड़ें (2019)* में सुविरा जयसवाल कहती हैं -

> *"वस्तुत: उत्तर आधुनिकतावादियों ने इस बात पर जोर दिया कि जाति (प्रथा) के विरोध में तर्क देने का कोई औचित्य नहीं है क्योंकि यह 'विपक्षी राजनीति को गोलबंद करने के लिए' (डर्क्स 2006 :*

314) सबसे नीचे के लोगों (इलैया 2009 : 28) का माध्यम बनती है।"

वो आगे कहती हैं -

"जो भी हो, ... जातीय अस्मिताओं को बनाये रखने की शुभेच्छापूर्ण दिख रही इन दलीलों में जातियों के आंतरिक ढांचे और कार्यपद्धति की पूरी तरह अवहेलना की गई है। यह प्रथा महिलाओं को अधीन बनाने तथा औरतों की लैंगिकता के प्रबंधन और नियंत्रण पर आधारित है जो जातियों के प्रजनन के लए एक बुनियादी आवश्यकता है।"

इस प्रकार, यह अपरिहार्य है कि जाति व्यवस्था को बनाए रखने और किसी भी रूप में इसे पुनर्जीवित करने का प्रयास महिलाओं की कामुकता (sexuality) पर नियंत्रण को जन्म देगा। हम यहाँ देख सकते हैं कि जातिगत पहचान के पुनरुत्थान पर आधारित राजनीति किस तरह से फासीवादी राजनीति और विचारधारा के समान है। सुवीरा आगे लिखती हैं -

"मिसाल के तौर पर हरियाणा में जाट खाप पंचायतें 'ऑनर किलिंग' के नाम पर उतपीड़न, मारपीट और हत्या को प्राय: उचित ठहराती हैं और कोई भी राजनीतिक दल इनकी भर्त्सना करने के लिए इसलिए तैयार नहीं होता क्योंकि इसका वोट की राजनीति पर असर पड़ता है। ... इस तरह की घटनाएं किसी जाति या क्षेत्र तक सीमित नहीं है। बताया जाता है कि सामाजिक श्रेणीबद्धता में जो जाति जितने ही निचले पायदान पर होती है, उसकी जाति पंचायत उतनी ही मजबूत है और उसके पास लोगों को समाज से बहिष्कृत करने, उन्हें दंड देने, उन पर जुर्माना लगाने आदि का अधिकार उतना ही जयादा होता है। ... बसुधा धगमवार ने दर्शाया है कि कैसे जाति पंचायतें देश के कानून की पूरी तरह अवहेलना करते हुए 'पीट-पीटकर मार डालने' का फैसला सुना देती है और यह बात दलितों की जाति पंचायतों पर भी लागू होती हैं। ऐसे मामले सामने आए हैं जहां लोगों ने अपनी मर्जी से शादियां की हैं और यद्यपि ये शादियां समाज द्वारा स्वीकृत सजातीय समूहों के बीच ही हुई हैं लेकिन इनके लिए बड़े बुजुर्गों की स्वीकृति नहीं ली गयी और ऐसी हालत में दलितों की जाति पंचायतों ने उन्हें कठोर दंड दिया – यहां तक कि युवा दंपितयों की हत्या भी कर दी गई। (भागवत 1995)। यह अकारण नहीं है कि बाबा साहब अंबेडकर ने पूरी तरह जाति को समाप्त करने की बात कही और यह विचार व्यक्त किया कि इस उद्देश्य को अंतर्राजातीय विवाहों के जरिये ही प्राप्त किया जा सकता है।"

जाति व्यवस्था का मतलब है ऊपर से नीचे तक जाति की शुद्धता बनाए रखना और इसलिए इसे तथाकथित रक्त की शुद्धता बनाए रखने की आवश्यकता है। यह नाज़ियों और फ़ासीवादियों के सुजननवादी (यूजेनीसिस्ट) दृष्टिकोण से बहुत अलग नहीं है। यह बिना कारण नहीं है कि फ़ासीवाद में जाति के पुनरुत्थान की राजनीति के लिए पर्याप्त जगह है। इस पर आधारित पूरी राजनीति और इसे अपनाने वाले नेताओं को फ़ासीवादियों द्वारा बहुत अच्छी तरह से समायोजित कर लिया जाता है। भारत में, जहाँ जातिगत पदानुक्रम अभी भी व्याप्त है, इसने पितृसत्ता के खिलाफ़ हमारी लड़ाई में हमारे सामने एक बहुत बड़ी चुनौती खड़ी कर दी है, खासकर तब जब मोदी शासन के तहत सभी प्रकार के प्रतिगामी हमले बिना किसी रोक-टोक के किए जा रहे हैं जो एक फासीवादी शासन से बहुत अलग नहीं है। हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि फासीवादी हमले पुरानी पितृसत्ता को नस्लवादी-नृजातीय-जातिवादी और सांप्रदायिक विचारधारा के साथ जोड़ते हैं और इस तरह नैतिक-वैचारिक और सामाजिक-सांस्कृतिक पतन और सड़न के नए निम्न स्तर पर राज करते हैं जो 21वीं सदी के अत्यंत पतनशील और परजीवी पूंजीवाद के कारण समाज में भीतर तक व्याप्त हो गया है। हमें इस तथ्य को स्वीकार करने से पीछे नहीं हटना चाहिए कि फासीवाद ऐसे सभी तरह के पतन की गर्त में सवार है जिसका अर्थ है कि अगर फासीवाद से सफलतापूर्वक नहीं लड़ा गया तो महिलाओं का जीवन पूरी तरह नरक बन जाएगा।

निर्भया से अभया तक; कुछ चिंताजनक प्रश्न

अभी कुछ समय पहले ही कोलकाता के आर. जी. कर मेडिकल कॉलेज और अस्पताल की 31 वर्षीय युवा महिला प्रशिक्षु डॉक्टर (जिसका नाम 'अभया' दिया गया) के साथ 9 अगस्त 2024 को हुए क्रूर बलात्कार और हत्या के बाद बंगाल ही नहीं बल्कि पूरे देश में गुस्सा फूट पड़ा। कोलकाता के डॉक्टरों, मेडिकल छात्रों और आम जनता ने इस जघन्य घटना के अपराधियों के खिलाफ़ जंग का मोर्चा

खोल दिया था, और 14 अगस्त को आधी रात को कोलकाता की सड़कों पर महिलाओं का सैलाब उमड़ पड़ा और उन्होंने अपने होठों पर एक खास नारा - *'रात को वापस लो (रिक्लेम द नाईट)'* - के साथ पितृसत्ता को खुली चुनौती दी। यह वाकई वीरतापूर्ण था। ऐसी हर घटना का जवाब ऐसे ही प्रतिरोध प्रदर्शनों से दिया जाना चाहिए। ग्यारह साल पहले भी, 16 दिसंबर 2012 की रात को देश की राजधानी दिल्ली में चलती बस में पैरामेडिकल छात्रा (जिसका नाम 'निर्भया' दिया गया था) के साथ हुए क्रूर बलात्कार के बाद महिलाओं ने सड़कों पर आकर खुलेआम पितृसत्ता का सामना करते हुए उसे चुनौती दी थी। उनका नारा था, *"मेरी आवाज़ मेरी स्कर्ट से भी ऊँची है।"* हालाँकि, जैसा कि ऊपर बताया गया है, ऐसे वीरतापूर्ण विरोध प्रदर्शन कुछ बहुत ही परेशान करने वाले सवाल भी खड़े करते हैं।

आखिर ऐसा क्यों होता है कि ऐसे वीरतापूर्ण प्रदर्शन उतना बड़ा आवेग नहीं पैदा कर पाते जो ऐसे आंदोलनों में रस्मअदायगी की एकरसता को तोड़ने के लिए आवश्यक ऊर्जा उत्पन्न करें और लोगों की चेतना को वहां तक उठा पाएं, जहां वो उस सामाजिक व्यवस्था के लिए संघर्ष में उतरें जो इस तरह के अत्याचारों के साथ-साथ खुद पितृसत्ता को ही *हमेशा-हमेशा* के लिए समाप्त कर देगी। चाहे यह कितना भी दर्दनाक क्यों न हो, हमें यह स्वीकार करना होगा कि एक तरह से ऐसे वीरतापूर्ण विरोध प्रदर्शन अंततः व्यर्थ साबित होते हैं। "रिक्लेम द नाइट" आंदोलन को देखें। यह भी बहुत आगे नहीं बढ़ पाया क्योंकि यह उपर्युक्त आवश्यक ऊर्जा और प्रेरणा - *वैचारिक-राजनीतिक प्रेरणा और आवेग नहीं पैदा कर सका,* भले ही कुछ रिपोर्ट दावा करती हैं कि यह अभी भी जारी है और बंगाल के कुछ समूह अभी भी पितृसत्ता के केंद्रीय मुद्दे पर समाज को उद्वेलित रहे हैं।

जो भी हो, यह एक कड़वी सच्चाई है, जैसा कि इतिहास में भी देखा गया है, कि ऐसे आंदोलन अक्सर कड़े कानून बनाने और अपराधियों को दंडित करने की मांग उठाने से आगे नहीं बढ़ पाते। हालांकि, यह समझना होगा कि सिर्फ कड़े कानून बनाने से पितृसत्ता खत्म नहीं हो सकती क्योंकि समाज की वस्तुगत परिस्थितियां यानी सामाजिक-आर्थिक संरचना जो ऐसे कानूनों को लागू करना संभव बनाती हो, मौजूद नहीं है। इसके लिए मौजूदा समाज को बदलने की जरूरत है यानी ऐसे आधार पर पुनर्गठित करने की जरूरत है जो पितृसत्ता और महिलाओं पर अत्याचार को बढ़ावा न दे। और इसलिए, इसके लिए समाज के मौजूदा शासक वर्गों को उखाड़ फेंकना आवश्यक है।

अब तक का नतीजा क्या रहा है? निर्भया के बलात्कार और हत्या के खिलाफ हुए वीरतापूर्ण विरोध प्रदर्शनों ने भाजपा के नेतृत्व में फासीवादियों को बेहद आवश्यक शक्ति प्रदान की (जैसा कि उसी दौरान चल रहे भ्रष्टाचार विरोधी आंदोलन ने भी किया था) और वे 2014 में सत्ता में आये। यह देखना होगा कि अभया के बलात्कार और हत्या मामले के खिलाफ आंदोलन बंगाल में भाजपा को कितना मजबूत करेगा। हालांकि, आज भी इस बात से इनकार नहीं किया जा सकता है कि इसने किसी और से ज्यादा भाजपा को ही मजबूत किया है। 1978 में ईरान में हुए महिलाओं के विशाल विरोध प्रदर्शनों का अनुभव भी ऐसा ही है। यह अंततः फरवरी 1979 में शाह को उखाड़ फेंकने वाली राजशाही-विरोधी और अमेरिका-विरोधी क्रांति में बदल गई। लेकिन लोकप्रिय अपेक्षाओं के साथ-साथ पश्चिमी मीडिया और यहां तक कि ईरानी बुद्धिजीवियों की अपेक्षाओं के विपरीत, *"इसने 'इस्लामी नारीवाद' को जन्म दिया और हर जगह इस्लामी कट्टरवाद को बढ़ावा दिया, जो कि धार्मिक सत्ता के लिए प्रयासरत था और [जो कभी] साम्राज्यवाद के साथ मिलीभगत और [कभी] उनके साथ संघर्ष में रहता था।"*[19]

अक्सर यह तर्क दिया जाता है, और यह सही भी है, कि क्रांतिकारी आंदोलन और उसके घटकों की संगठनात्मक ताकत इतनी मजबूत नहीं है कि वे इन आंदोलनों को सही रास्ते पर चलने के लिए प्रभावित कर सकें - वह रास्ता जो वास्तविक अपराधी यानी पूंजी के शासन, जो अपने हितों के लिए पितृसत्ता को बढ़ावा देता है और महिलाओं पर जघन्य अत्याचार करता है, के खिलाफ गुस्सा जगाए। हालांकि, यह एक निर्विवाद तथ्य है कि वैचारिक और राजनीतिक कमजोरियों की ऐसी विफलताओं में अपनी भूमिका होती है। इसलिए, हमें नैतिक रूप से इतना मजबूत होना चाहिए कि सही वैचारिक-राजनीतिक दिशा-निर्देशन की कमी से उत्पन्न होने वाली कमजोरियों को इंगित कर सकें, जो अक्सर हमारे संगठनात्मक हस्तक्षेप की कमजोरी के लिए जिम्मेदार होती हैं। उदाहरण के लिए, अगर हमारा

आंदोलन पितृसत्ता से सूक्ष्मता और सावधानी से लड़ने के लिए मार्क्सवादी-लेनिनवादी दृष्टिकोण और नारीवादी दृष्टिकोण के बीच अंतर के मूल को ध्यान में नहीं रखता है, वह भी बढ़ते फासीवाद के समय में, तो यह हमारे हस्तक्षेप को प्रभावित करेगा जो पहले से ही संगठनात्मक ताकत की कमजोरी से ग्रस्त है, और वांछित या इच्छित परिणाम नहीं लाएगा। जैसा कि हम पहले से ही जानते हैं कि विश्व सर्वहारा वर्ग के महान शिक्षक और नेता लेनिन इस बारे में बहुत सतर्क और सावधान थे। वह हमेशा **नारीवाद की बुर्जुआ प्रकृति को उजागर करने में स्पष्ट रहते थे।**[20]

नारीवाद, जो कि *मूलतः* महिला प्रश्न पर एक बुर्जुआ विचारधारा है और जो अपनी सभी विविधताओं में पूंजीवाद के निषेध के लिए प्रतिबद्ध नहीं है और लिंग संबंधों को पितृसत्ता की व्यवस्था के रूप में नहीं देखता (शाहरज़ाद मोजाब)[21], न केवल संरचनात्मक विघटन को बल्कि परिवार और लिंगों के बीच संबंधों के आध्यात्मिक (स्पिरिचुअल) विघटन को भी आगे बढ़ाता है। वो यह महिला की स्वतंत्रता या स्वाधीनता के विचार को प्रत्येक पुरुष और महिला व्यक्ति के एक *पूरी तरह से* स्वतंत्र और मुक्त पहचान में परमाणुकरण के रूप में अवधारणा बना कर करता है। यह नारीवाद द्वारा लिंग संबंधों और पूंजीवाद को अलग करने और लिंग को पहचान और संस्कृति के प्रश्नों तक सीमित करने का स्वाभाविक परिणाम है (शाहरज़ाद मोजाब) जो यह महसूस नहीं करता कि महिलाओं की वास्तविक स्वतंत्रता पूंजीवाद और बुर्जुआ निजी संपत्ति के उन्मूलन और उत्पादन के सभी साधनों के पूर्ण रूप से समाजीकृत स्वामित्व के आधार पर समाज के पुनर्गठन में निहित है। मार्क्सवादियों को इस बात का ध्यान रखना चाहिए और महिलाओं की स्वतंत्रता के इस नारीवादी चित्रण का शिकार नहीं बनना चाहिए। इसके नकारात्मक प्रभाव आज के बुर्जुआ एकल परिवार (न्यूक्लियर फैमिली) में अच्छी तरह से देखे जा सकते हैं जो बुर्जुआ समाज की आर्थिक इकाई के रूप में कार्य करता है और जो पुरुषों और महिलाओं दोनों के सभी प्रकार के अभाव, अलगाव, परमाणुकरण, और पृथक्करण की जगह है। यह निजी संपत्ति की अंतिम मंजिल है; यह वही है जिसकी निजी संपत्ति ऐतिहासिक रूप से और इस प्रकार *स्वाभाविक रूप से* आकांक्षा करती है; यह परिवार का वह रूप है जिसमें निजी संपत्ति ने अपने ऐतिहासिक मिशन और रूप को बुर्जुआ शासन के तहत पूरी तरह से साकार किया। इस मंजिल पर पहुंचने के बाद, समाज का हर सदस्य एक दूसरे से पूर्ण अलगाव और विच्छेद की भावना से ग्रस्त हो जाता है। कोई भी देख सकता है कि बुर्जुआ शासन के तहत यह भावना कितनी व्यापक है। बुर्जुआ निजी संपत्ति संबंधों के तहत केवल यही हो सकता था, और इस तरह यह निजी संपत्ति के संरक्षण में बुर्जुआ सामाजिक और उत्पादन संबंधों से उत्पन्न श्रमिकों के अलगाव की भावना का विस्तार के अलावा और कुछ नहीं है।

इसलिए पितृसत्ता के खिलाफ लड़ते हुए, महिलाओं की स्वतंत्रता और मुक्ति के लिए हमें, नारीवादियों के विपरीत, इस विघटन को आगे नहीं बढ़ाना चाहिए और इसका महिमामंडन नहीं करना चाहिए; इसके बजाय हमें समाजवाद-साम्यवाद के तहत समाज के एकीकरण के उच्च स्तर के विचार को आगे बढ़ाना चाहिए, जहाँ कोई भी व्यक्ति अलगाव और विच्छेद की भावना से कभी पीड़ित नहीं होगा। यही है जो मार्क्सवाद, नारीवाद के विपरीत, सामंती पितृसत्ता के खिलाफ लड़ते हुए, और स्पष्टता के लिए, किसी भी पितृसत्ता के खिलाफ लड़ते हुए, पूरी मानव जाति के लिए कल्पना करता है। हमें ध्यान देना चाहिए कि मार्क्स ने पूंजी के पहले खंड में क्या उल्लेख किया है। वह 'श्रम के संगठन में परिवर्तन' द्वारा 'रोजगार के अवसरों के एक व्यापक क्षेत्र' के खुलने के परिणामस्वरूप महिलाओं की 'अधिक आर्थिक स्वतंत्रता' के बारे में बात करते हैं, जिसमें 'दोनों लिंगों' को 'उनके सामाजिक संबंधों में एक साथ लाया गया है' और इस प्रकार 'घरेलू क्षेत्र के बाहर उत्पादन की सामाजिक रूप से संगठित प्रक्रियाओं में' महिलाओं का शामिल होना 'परिवार के एक **उच्च** रूप और लिंगों के बीच संबंधों के लिए एक **नई** आर्थिक नींव' के रूप में कार्य करेगा (बोल्ड जोड़ा गया)। इसका क्या मतलब है? इसका मतलब यह है कि हम मार्क्सवादी कभी भी नारीवादी विचारधारा और व्यवहार के पदचिन्हों पर नहीं चल सकते और न ही हमें चलना चाहिए, जो लिंग की स्वतंत्रता और समानता के लिए लड़ते हुए परिवार और लिंगों के बीच संबंधों के विघटन और अलगाव का महिमामंडन करते हैं। हम जानते हैं कि नारीवाद महिलाओं के सवाल को जेंडर पहचान के सवाल में बदल देता है, मानो महिलाओं का दमन सिर्फ़ एक सांस्कृतिक घटना हो। हम इस जेंडर स्वतंत्रता संरचना और व्याख्या के साथ फासीवाद के खिलाफ नहीं लड़ सकते। यह मानवीय संबंधों के मूल तत्व के

भी खिलाफ जाता है जिसका मूल तत्व पुरुष-महिला संबंध है।[22] फासीवाद अपने नापाक नस्लवादी उद्देश्यों के लिए इसका सहारा लेता है और इस प्रक्रिया में पितृसत्ता को नस्लवादी पितृसत्ता में बदल देता है। फिर, बुर्जुआ व्यवस्था के तहत परिवार और लिंगों के संबंधों के विघटन और उसके आर्थिक आधार के रूप में एकल परिवार की सबसे गंभीर समस्या का सामना करने वाली महिलाएं बड़ी संख्या में नस्लवादी पितृसत्तात्मक अपील को खुशी-खुशी स्वीकार कर सकती हैं, और बहुसंख्यक महिलाएं मानवीय संबंधों के मूल तत्व की रक्षा के लिए खुद को ही अपनी छोटी दुनिया में धकेलने के लिए तैयार हो सकती हैं। हमने इस आलेख के अंतिम भाग में इसके कुछ मुख्य पहलुओं पर चर्चा करने का प्रयास किया है।

हालांकि, यह वर्णन करना किसी भी तरह से कम महत्वपूर्ण और प्रासंगिक नहीं होगा कि युवा मार्क्स ने मध्ययुगीन सामंतवाद की समग्रता और अंतरंगता की तुलना में बुर्जुआ समाज के अलगाव और अहंकार के बारे में क्या और कैसे सोचा। मार्क्स ने अपने शुरुआती लेखन में, चाहे वह 'यहूदी प्रश्न पर' (1844) हो या 'हेगेल के अधिकार के दर्शन की आलोचना' (1843) हो, जिसमें उन्होंने मध्ययुगीनवाद को 'अस्वतंत्रता का जनतंत्र' कहा है, लगातार बुर्जुआ समाज के अलगाव और अहंकार को ध्यान में रखा है और मानव मुक्ति के उद्देश्य के अपने स्वयं के विवरण (जिससे वे जूझ रहे थे) को बेहतर ढंग से समझने के लिए मध्ययुगीन सामंतवाद की समग्रता और अंतरंगता के साथ इसकी तुलना की है।

" जबकि मार्क्स सामंती उदासीनता (nostalgia) को खारिज करते हैं और पूंजीवाद और उदार संवैधानिकता द्वारा लाई गई क्रांतिकारी प्रगति पर जोर देते हैं, फिर भी उनका मानना है कि मध्ययुगीनता में राजनीतिक और आर्थिक जीवन की आंशिक एकता का एक मॉडल है जिसे 'सच्चा लोकतंत्र' बहाल करेगा और उग्र बनाएगा।'... सार्वजनिक और निजी क्षेत्रों के बीच एक अंतर को मजबूत करके, उदार राज्य एक तरह का सामाजिक सिज़ोफ्रेनिया उत्पन्न करता है, एक की व्यक्तिगत स्वतंत्रता और सम्पूर्ण सामूहिक स्वतंत्रता के बीच संबंध के बारे में भ्रम पैदा करता है। जाहिर तौर पर स्वतंत्र नागरिक वास्तव में हॉब्सियन युद्ध की स्थिति में परमाणु योद्धा हैं। ... मार्क्स का दावा है कि केवल साम्यवाद ही निजी और सार्वजनिक, व्यक्तिगत और सामूहिक स्वतंत्रता का पूर्ण सामंजस्य प्रदान करेगा।"[23]

यह याद रखना चाहिए कि पितृसत्ता को चुनौती देते हुए, खासकर महिलाओं पर बढ़ते फासीवादी हमलों के वर्तमान दौर में, अगर हम नारीवाद के पदचिन्हों पर चलते हैं, जो महिलाओं के सवाल को पहचान के सवाल में बदल देता है, तो यह पितृसत्ता को कायम रखने वाले शासक वर्गों को उखाड़ फेंकने के उद्देश्य से क्रांतिकारी आंदोलन की जीत और महिलाओं की मुक्ति के संघर्ष, दोनों के लिए विनाशकारी होगा। क्रांति की जीत और भी दूर हो जाएगी।

वैसे भी, सबसे बुरा समय अभी आना बाकी है क्योंकि फासीवाद - महिलाओं की मुक्ति का सबसे बड़ा दुश्मन - हर जगह सत्ता में आ रहा है। यह भी ध्यान दिया जाना चाहिए कि आज के फासीवादियों का महिला-विरोधी दमनकारी चरित्र पहले के समय की तुलना में कहीं अधिक गंभीर और खतरनाक है क्योंकि वे आज के पतनशील और परजीवी पूंजीवाद के सबसे खूंखार तत्वों के कहीं अधिक अमानवीय, सड़े हुए और प्रतिक्रियावादी प्रतिनिधि हैं। इसे और अधिक सरलता से कहें तो जहाँ तक महिलाओं के प्रति उनके रवैये का सवाल है, आज का फासीवाद 20वीं सदी के अपने समकक्षों की तुलना में कहीं अधिक विश्वासघाती, चालाक, गंदा और दुष्ट चरित्र वाला है। अगर यह अंतिम जीत हासिल कर लेता है, तो यह महिलाओं के जीवन को पूरी तरह से नरक बना देगा। यह पहले से ही समाज में मानवीय मूल्यों को बहुत तेजी से नष्ट कर रहा है। फासीवाद के बारे में सबसे विचलित करने वाली बात यह है कि यह अपने ही निर्माता यानी 21वीं सदी के क्षयग्रस्त पूंजीवाद की परजीवीता के कारण नैतिक पतन के गर्त (सबसे निचले बिंदु) पर सवार होकर सत्ता में आने और उसके बाद शासन करने की कोशिश करता है। यह सड़न को अपने राजनीतिक हथियार के रूप में इस्तेमाल करता है और राज्य सत्ता पर अपनी पकड़ की मदद से इसे संस्थागत बनाता है। यह दर्शाता है कि अगर समाज को पूंजीवाद, जो इतना क्षयग्रस्त और परजीवी हो चुका है कि यह समाज के शरीर पर एक कैंसर की तरह लगता है जो धीरे-धीरे इसे खा रहा है, के चंगुल से मुक्त नहीं किया गया तो समाज का अंतिम भाग्य क्या होगा। यह निश्चित

रूप से सच है कि हम एक ऐसे समाज में जी रहे हैं जो सांस्कृतिक और नैतिक रूप से बीमार हो गया है, और नैतिकता और सामाजिक क्षय के इस पूर्ण पतन के ऊपर सवार हो कर फासीवाद इसे अपनी तरह की पितृसत्ता के साए में और अधिक निगलने के लिए पूरी तरह तैयार है।[24]

पूंजीवाद को न उखाड़ फेंकने के लिए इतिहास का 'मृत्युदंड'

हां, हम इसे झेल रहे हैं। चलिए इसे स्पष्ट करते हैं। महिलाओं के लिए आज का दमनकारी माहौल किसी भी पिछले युग से कहीं अधिक घिनौना है। पूंजीवाद से पहले के समाजों में महिलाओं को पितृसत्तात्मक, सामंती और धार्मिक मूल्यों की मदद से दबाया जाता था, जबकि इस युग ने महिलाओं को एक 'स्वतंत्र' और बिकाऊ माल में बदल दिया है। कल तक घर की चारदीवारी में कैद रहने वाली महिलाएं आज और भी अधिक घिनौने सामाजिक माहौल में घिरी हुई हैं, क्योंकि उन्हें लगातार एकमात्र सेक्स-ऑब्जेक्ट, सेक्स-सिंबल या माल (कमोडिटी) में बदलने की कोशिश की जा रही है, जिसके लिए उन्हें तरह-तरह के अपमानजनक और भद्दी संज्ञाएं दिए जा रहे हैं। पूंजी ने आज महिलाओं को एक ऐसी वस्तु में बदल दिया है जिसका इस्तेमाल वो अपने मुनाफे की भूख को शांत करने के लिए कैसे भी कर सकता है। सबसे बड़ी साजिश यह है कि यह सब महिलाओं की तथाकथित स्वतंत्रता और आजादी के नाम पर किया जा रहा है।[25] पितृसत्ता के खिलाफ नारीवादी दृष्टिकोण का इसमें अपना योगदान है।

"नारीवादी सिद्धांत, आज अपनी सभी विविधताओं में, पूंजीवाद के निषेध के लिए प्रतिबद्ध नहीं है, और कुछ सिद्धांतकार लैंगिक संबंधों को एक व्यवस्था (पितृसत्ता) के रूप में नहीं देखते हैं, जबकि कुछ अन्य महिलाओं की मुक्ति के विचार को 'भव्य आख्यान' के रूप में अस्वीकार करते हैं। नारीवाद का लैंगिक संबंधों और पूंजीवाद को अलग करना और लिंग को संस्कृति के सवालों तक सीमित करना इससे भी अधिक न्यूनतावादी है। यह एक ऐसा नारीवाद है जो 20वीं सदी के महिला आंदोलनों के वैचारिक ढांचे को त्यागने में सांत्वना पाता है, जिसमें उत्पीड़न, शोषण, अधीनता, परतंत्रता, एकजुटता और अंतर्राष्ट्रीयता की अवधारणाएँ शामिल हैं, वो भी एक ऐसे समय में जब धार्मिक और बाज़ारवादी कट्टरपंथ दुनिया भर में 'महिलाओं पर युद्ध' में लगे हुए हैं।"[26]

खास तौर पर भारत की बात करें तो यहां सामंती-पितृसत्तात्मक और साम्राज्यवादी संस्कृति व मूल्यों का विस्फोटक मिश्रण देखने को मिलता है, जो आजकल फासीवादियों के लिए बना-बनाया चारा बन गया है क्योंकि इसने अलगाव की भावना के साथ-साथ गहरा आध्यात्मिक संकट पैदा कर दिया है, जिससे मानसिक बीमारियां और अवसाद पैदा हो रहे हैं। यह स्थिति पितृसत्तात्मक फासीवादी विचारधारा के लिए बहुत काम की है। यह इसके तेजी से बढ़ने के लिए उपजाऊ जमीन है क्योंकि इसकी शिकारी प्रकृति श्रम और महिलाओं दोनों के खिलाफ काम करती है। श्रम के बाद इसने महिलाओं के शरीर को निशाना बनाया है। इसने महिलाओं के उत्पीड़न और उनके खिलाफ हिंसा में नए आयाम जोड़े हैं और आगे भी जोड़ते रहेंगे। इसके प्रभाव अब साफ तौर पर दिखने लगे हैं। आधुनिक पूंजी के सबसे घृणित हितों के साथ महिला उत्पीड़न के पितृसत्तात्मक, धार्मिक और अन्य प्राक-पूंजीवादी तरीकों के गठजोड़ ने महिलाओं को आज पूंजी का एक अनूठा निशाना बना दिया है। आज का सड़ांध से भरा महिला-विरोधी माहौल इसी का नतीजा है। स्थिति इतनी भयावह है कि यह बाढ़ से ठीक पहले की स्थिति जैसी है, जब बांध में पानी का स्तर लाल निशान पर पहुंच जाता है। बलात्कार हर जगह हो रहे हैं - सड़कों पर, कार्यस्थल पर, यात्राओं में, स्कूलों और कॉलेजों में। आज बच्चे भी अपने घरों तक में सुरक्षित नहीं हैं। कोई भी जगह सुरक्षित नहीं रह गई है। कोई भी रिश्ता पवित्र नहीं रह गया है। नैतिकता जैसे शब्द आज बेमानी हो गए हैं।

आइए इस पतन को बढ़ावा देने में बाजार की भूमिका पर चर्चा करें। जैसा कि ऊपर कहा गया है, हम एक ऐसी पूंजीवादी सामाजिक व्यवस्था में रह रहे हैं जो पतन और परजीवीवाद को बढ़ावा देती है, जहाँ बाजार के माध्यम से महिलाओं को सेक्स ऑब्जेक्ट और माल में बदलने के लिए हर संभव प्रयास किया जा रहा है ताकि उनका मुनाफा बढ़े, और ये बदले में पुरुषों की यौन इच्छाओं को उत्तेजित कर रहा है। महिला-विरोधी पितृसत्तात्मक संस्कृति के सामान्य परिदृश्य में, पूंजीवादी बाजार की अत्यधिक व्यापक और बढ़ी हुई भूमिका ने पूरे परिदृश्य को मौलिक रूप से बदल दिया है। आइए इसे और करीब से देखें।

आज के समाज में हर चीज़ बाज़ार

में खरीद-बिक्री के लिए उपलब्ध है। अगर हम बाजार के खेल के नियमों से वाकिफ हैं तो हमें पता होगा कि इजारेदार पूंजी बाज़ार को ऊपर से नीचे तक नियंत्रित करती है। इसके नियम सीधे बड़ी पूंजी, खास तौर पर इजारेदार वित्तीय पूंजी यानी इसके सबसे परजीवी घटक के नियंत्रण में हैं। इसकी संरचना और इसका पूरा खेल जिसके ज़रिए यह समाज को नियंत्रित करता है और इसकी छवि गढ़ता है, वह भी इसी इजारेदार पूंजी के नियंत्रण में है। यहाँ सवाल उठता है: क्या शिकारी बाज़ार स्त्री शरीर जैसी 'आकर्षक चीज़' और लिंगों के बीच आकर्षण की भावना को 'रिश्ते के लिए' और 'सौंदर्य के लिए' ही रहने देगा? क्या ये बाज़ारी ताकतें, जो इंसानों की सूखी हड्डियाँ भी निचोड़कर मुनाफ़ा कमाती हैं, स्त्री शरीर और कामुकता का भी शोषण नहीं करेंगी? ये सीधे तौर पर तो मूल्य या अधिशेष मूल्य और पूंजी का निर्माण नहीं करती है, लेकिन इसका उपयोग वस्तुओं की बिक्री बढ़ाने में किया जा सकता है, जैसा कि हम अश्लील विज्ञापनों, पोर्न उद्योग तथा मनोरंजन उद्योग (फिल्में, सीरियल, संगीत वीडियो, रील आदि) में पैदा हो रहे राजस्व के माध्यम से देख रहे हैं, और इसलिए यह मूल्य प्राप्ति का एक साधन है।[27]

पोर्नोग्राफी पैसा कमाने का सीधा जरिया बन गई है। किसी भी तरह अमीर बनने की प्रवृत्ति को बढ़ावा देने वाले आज के समाज में स्त्री कामुकता को पैसा कमाने का आसान और शर्तिया जरिया बनाया जा रहा है। इसे नैतिकता और अनैतिकता की बहस से परे का विषय बनाया जा रहा है। ***जिस पर बाजार मेहरबान हो, वह कोई भी चीज अनैतिक कैसे रह सकती है!***

वेश्यावृत्ति भी अब बहस से परे है! वेश्यावृत्ति जरूर चोरी-छिपे होती है, लेकिन नग्न शरीर के प्रदर्शन को पहले से ही खुली स्वीकृति मिल चुकी है। उत्पादक शक्तियों के विनाश और बढ़ती बेरोजगारी के माहौल में *स्त्री शरीर के नग्न प्रदर्शन* को महिलाओं के लिए एक बड़ा आकर्षक पेशा बनाया जा रहा है। ऐसा करके पूंजी के सभी उद्देश्य पूरे हो जाते हैं। वेश्यावृत्ति पर अनैतिकता का दाग अभी भी बना हुआ है, लेकिन जिस तरह से यह सार्वभौमिक होती जा रही है, उसके परिणाम स्पष्ट हैं।

इस तरह बाजार ने स्त्री देह और स्त्री कामुकता की मांग बढ़ा दी है। इसलिए इसकी आपूर्ति के लिए नए केंद्रों का उदय होना लाजिमी है। बाजार सिर्फ एक जगह नहीं है, यह एक पूरी प्रक्रिया का नाम है। मांग और आपूर्ति इसके केवल दो महत्वपूर्ण पात्र हैं। जब स्त्री देह इसमें शामिल हुई, तो स्वाभाविक रूप से पूंजीवाद-साम्राज्यवाद की जरूरतों के हिसाब से पितृसत्ता की छाया में मौजूदा समाज में इसे गौरवपूर्ण स्थान मिला। इसलिए यह बाजार का एक महत्वपूर्ण (गुप्त या खुला) हिस्सा बन गया है, जिसका 'मांग और आपूर्ति' का चक्र बखूबी काम कर रहा है, क्योंकि नैतिक पतन पहले ही चरम पर पहुंच चुका है। अब इसे प्रतिष्ठित बनाना भी जरूरी था। इसलिए इस लक्ष्य की पूर्ति के लिए 'संस्थाएं' स्थापित की गईं। 'ग्लैमरस' दिखने के प्रशिक्षण केंद्र खोले गए और इसके गुणगान होने लगा। बड़ी पूंजी के केंद्रों के साथ इसके प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष संबंध स्थापित किए गए।

यहाँ यह बात ध्यान देने योग्य है कि पूंजीवाद ने हमें समाज के पूर्ण नैतिक और सांस्कृतिक विघटन की ओर अग्रसर किया है। फासीवाद पहले इसका लाभ उठाकर अपने उत्थान के लिए इसका इस्तेमाल करेगा। लेकिन अपने पूर्णतया महिला-विरोधी चरित्र और उनकी मुक्ति के विरोध के कारण वह अंततः इस स्थिति का इस्तेमाल महिलाओं को घरों की चारदीवारी के भीतर धकेलने और उन्हें दासता की स्थिति स्वीकार करने के लिए मजबूर करने के लिए करेगा।

संक्षेप में कहें तो सुसंस्कृत नामों के तहत कामुकता और नग्नता की प्रतियोगिताएं होने लगीं। समाज को पुराने जमाने के 'वेश्यालय' और 'हरम' से जुड़ी 'शर्म की भावना' से मुक्ति मिली। सेक्स बाजार को वैधानिक मान्यता मिलने लगी और यह स्वाभाविक और सामान्य लगने लगा। धीरे-धीरे यह आज आम बाजार का हिस्सा बन गया है। बाजार इससे भी आगे निकल गया। उसने घोषणा की: जब इंटरनेट पर चैटिंग संभव है, तो इस पर सेक्स क्यों नहीं हो सकता? 21वीं सदी में बाजार की यह घोषणा अब पोर्नोग्राफी और पोर्न बाजार के रूप में मूर्त रूप ले चुकी है।[28] और पूंजी व बाजार के स्वार्थों के मायाजाल में पड़ कर समाज जरा भी विचलित नहीं है। उसने इसे सहजता से स्वीकार किया है या नहीं, यह तो स्पष्ट नहीं है, लेकिन यह जरूर है कि वह इसे चुपचाप सहन कर रहा है। कहीं भी खुलकर विरोध नहीं हो रहा है। यहां तक कि **कोलकाता और दिल्ली में अभया और निर्भया बलात्कार कांड के खिलाफ हुए पितृसत्ता विरोधी मार्च में भी नहीं।**

सबसे बड़ी विडम्बना यह है कि महिला आबादी में जो हिस्सा बढ़ती बेरोजगारी, गरीबी और भुखमरी से सबसे ज्यादा पीड़ित है, वही भौतिक जीवन की मजबूरियों और आजीविका की विकट समस्या के कारण देह बाजार की ओर 'स्वाभाविक रूप से आकर्षित' हो रहा है और यह एक चलन (ट्रेंड) बन चुका है!

लेकिन यह मानवता का कैसा मज़ाक है! उत्पादन क्षमता के शिखर पर बैठा समाज, जो एक तरफ पूंजी और माल की आधिक्य से पीड़ित है, वहीं दूसरी तरफ पूंजीवादी उत्पादन संबंधों और उनके द्वारा लगाई गई सीमाओं के कारण भूख और गरीबी की उदासीन स्थिति में भी लड़खड़ा रहा है! इसे पलटना था ताकि क्षय को पूरे शरीर में फैलने से रोका जा सके। लेकिन यह अपने आप नहीं हो सकता था, और हमने इसे पलटा तो बिल्कुल नहीं। इसलिए क्षय फैल गया और गहरा हो गया, इस हद तक कि अब यह समाज को निगल रहा है। ऐसा लगता है कि मानवता 'इतिहास की सजा' - 'मृत्युदंड' की सजा - भुगत रही है क्योंकि इस सारे पतन और क्षय को बढ़ावा देने वाली ताकतों को उखाड़ फेंकने के फौरी और बेहद जरूरी काम को पूरा नहीं किया गया।

अब, लगता है कि महिला शरीर और कामुकता के संबंध में बाजार और पूंजी का मुख्य उद्देश्य आज पूर्ण रूप से पूरा हो चुका है, क्योंकि इसकी मांग अन्य वस्तुओं की मांग की तरह ही लगातार बढ़ रही है। यह पूंजीवाद के चरम क्षय के कारण पैदा हुई सड़न है जिसके परिणामस्वरूप बुर्जुआ समाज का पूर्ण विघटन हुआ है। इसका मुकाबला समाज के साम्यवादी और समाजवादी एकीकरण से किया जाना था। लेकिन हम इसमें असफल रहे और इसका नतीजा यह हुआ कि अब फासीवाद अपनी पितृसत्ता के आवरण में महिलाओं पर अनगिनत दुख और हमले करने के लिए इस सबका इस्तेमाल कर रहा है और इसे निर्देशित भी कर रहा है। फिर से, सभी प्रकार के नारीवादी सिद्धांतों ने इसमें अपनी-अपनी भूमिका निभाई है।[29]

महिलाओं की अधीनता का संक्षिप्त इतिहास और महिला मुक्ति का रास्ता

महिलाओं की तथाकथित "हीनता" और पुरुषों से उनकी अधीनता न तो स्वाभाविक है और न ही शाश्वत। प्रारंभिक समाज में एक समय था, बर्बरता के मध्य चरण के अंत से ठीक पहले और खेती और पशुपालन[30] की शुरुआत से पहले, जब महिलाओं का घरेलू मामलों के साथ-साथ समाज में भी अग्रणी स्थान था। इस तरह से कि कोई भी श्रेष्ठ नहीं था यानी सामाजिक स्थिति में महिला और पुरुष समान थे। हालाँकि ऐसे साहित्य हैं जो कहते हैं कि महिलाओं का पुरुषों पर वर्चस्व भी था। हम अगस्त बेबेल की पुस्तक *महिला और समाजवाद (वूमन एंड सोशलिज्म)* में इसका कुछ विवरण पा सकते हैं।[31] ऐसे वर्णन भी यही बताते हैं कि महिलाएं अंततः पुरुषों के बराबर थीं, उनसे श्रेष्ठ नहीं। उनकी सर्वोच्चता का मतलब केवल यही था कि वे आदिम समाज में व्यवस्था बनाए रखने के लिए जिम्मेदार थीं। कुछ लेखकों ने उन्हें पुरुषों के बराबर या उनसे भी ज़्यादा शारीरिक शक्ति रखने वाला भी बताया है।[32] हालाँकि, मुख्य प्रश्न है: इसमें बदलाव कब और कैसे आया? इसका उत्तर फ्रेडरिक एंगेल्स ने अपनी महान कृति *परिवार, निजी संपत्ति और राज्य की उत्पत्ति (1884)* के माध्यम से दिया।

उन्होंने दिखाया कि उत्पादन के तरीके में बदलाव ने पुरुषों और महिलाओं के बीच समानता के उपरोक्त संबंध को निर्भरता और गुलामी या हीनता में बदल दिया। पहले, आदिम कृषि के तहत, महिलाएँ बगीचों और घरेलू कामों की देखभाल करती थीं जो तत्कालीन सामाजिक-सामुदायिक जीवन और उसके उत्पादन और प्रजनन का सबसे महत्वपूर्ण हिस्सा थे, जबकि पुरुष जीवन की दैनिक आवश्यकताओं को प्राप्त करने के लिए काम के एक हिस्से के रूप में शिकार पर जाते थे जो द्वितीयक भूमिका निभाते थे। इस अवधि के दौरान सामाजिक जीवन पूरी तरह से सामुदायिक था, जो कबीलों या *गोत्र* (जेन्स) द्वारा व्यक्तिगत या सामूहिक रूप से या व्यक्तियों के किसी भी समूह द्वारा एकत्र, प्राप्त या उत्पादित की गई चीज़ों पर सामूहिक स्वामित्व पर आधारित था। सब कुछ कबीलों के सामान्य स्वामित्व का था जबकि जीवन का प्रजनन सामूहिक विवाह के माध्यम से होता था, जिसमें वंश को महिला वंश के माध्यम से माना जाता था; बच्चा माँ के वंश का होता था न कि पिता के।[33] इसने महिलाओं को समाज के साथ-साथ घरों में भी अग्रणी स्थान पर पहुँचा दिया। निजी संपत्ति अभी तक परिदृश्य में नहीं आई थी।

हालांकि, पशुधन प्रजनन या पशुपालन की अवधि के आगमन के साथ, सामाजिक जीवन और उत्पादन का एक नया तरीका आकार लेने लगा, जिसकी शाखाएँ मवेशी पालन से लेकर घरेलू

हस्तशिल्प तक फैलीं, जिसने कृषि का विस्तार या विकास करने में मदद की। इसने अंततः सामाजिक जीवन और उत्पादन के पिछले तरीके को बदल दिया, जिसका आधार अब निजी संपत्ति थी, जो पहले रेवड़ और गल्ले (herds) के रूप में और उसके बाद अन्य धन जो इससे प्राप्त होते थे उसके रूप में, इन झुंडों के बदले में प्राप्त वस्तुएं और दास सहित, जो पुरुषों के कब्जे या स्वामित्व में आ गई थी। इसने एक दरार पैदा की और मातृ अधिकार के नेतृत्व वाली पुरानी गोत्र संरचना में व्यवधान पैदा किया क्योंकि पुरुष वर्ग इस बात पर अड़ा हुआ था कि उनकी निजी संपत्ति उनके बेटों को विरासत में मिले। यह वंश को पुरुष वंश के माध्यम से निर्धारित करने की लड़ाई थी न कि महिला वंश के माध्यम से यानी, पुरुषों के वर्ग ने मातृ-अधिकार को उखाड़ फेंकने के लिए एक युद्ध शुरू कर दिया।

एक तरफ जहां मातृ-अधिकार को उखाड़ फेंकने के लिए पुरुषों द्वारा यह लड़ाई एक मोड से दूसरे मोड में संक्रमण काल के साथ-साथ चल रही थी, सामाजिक जीवन का नया मोड, जब यह पूरी तरह से विकसित हो गया, तो इसने आखिरकार श्रम के पहले महान सामाजिक विभाजन को जन्म दिया जिससे दास प्रथा स्थापित हुई। और श्रम के इस सामाजिक विभाजन से समाज पहली बार दो वर्गों में विभाजित हुआ: स्वामी और दास। एंगेल्स लिखते हैं,

"जब पशुपालन, खेती, घरेलू दस्तकारी - सभी शाखाओं में उत्पादन का विकास हुआ तो मानव श्रमशक्ति जितना उसके पोषण में खर्च होता था, उससे अधिक पैदा करने लगी। साथ ही गोत्र के, या सामुदायिक कुटुंब के, अथवा अलग-अलग परिवारों के प्रत्येक सदस्य के जिम्मे रोजाना पहले से कही ज्यादा काम आ पड़ा। इसलिए जरूरत महसूस हुई कि कहीं से और श्रमशक्ति लाई जाए। वह युद्ध से मिली। युद्ध में जो लोग बंदी हो जाते थे, अब उनको दास बनाया जाने लगा। उस समय की सामान्य ऐतिहासिक परिस्थितियों में जो पहला बड़ा सामाजिक श्रम विभाजन हुआ, वह श्रम की उत्पादन-क्षमता को बढ़ाकर, अर्थात धन में वृद्धि करके और उत्पादन के क्षेत्र को विस्तार देकर समाज में अपने पीछे लाजिमी तौर पर दास प्रथा को ले आया। पहले बड़े सामाजिक श्रम विभाजन के परिणामस्वरूप खुद समाज के पहले बड़े विभाजन का उदय हुआ। समाज दो वर्गों में बंट गया : एक ओर दासों के मालिक हो गए और दूसरी ओर दास, एक ओर शोषक हो गए और दूसरी और शोषित।"

स्वाभाविक रूप से, कोई भी उस संक्रमण चरण या अवधि की कल्पना कर सकता है जो पिछली विधा (जिसमें महिलाओं ने अग्रणी और प्रमुख भूमिका निभाई थी) और इस नई विधा (जिसमें पुरुषों ने वह भूमिका निभाई थी) के बीच मौजूद थी। इस संक्रमणकालीन अवधि में, पुरुष ने पहले घर के बाहर और बाद में घर के अंदर अग्रणी और प्रमुख भूमिका निभानी शुरू की, केवल तब जब मातृ-अधिकार पूरी तरह से पराजित हो चुका था। **इसलिए यह कहा जा सकता है कि दास वर्ग के स्वामी वर्ग द्वारा उत्पीड़न के रूप में जो पहला वर्ग उत्पीड़न उत्पन्न हुआ, उसके पहले या कम से कम उसके साथ, महिला लिंग के पूरे वर्ग का पुरुष द्वारा उत्पीड़न स्थापित था।**

एंगेल्स ने इस संक्रमण काल को इन शब्दों में व्यक्त किया है –

"जानवरों के रेवड़ और गल्ले कब और कैसे कबीले अथवा गोत्र की सामूहिक संपत्ति से अलग-अलग परिवारों के मुखियाओं की संपत्ति बन गए, यह हम आज तक नहीं जान सके हैं। परंतु मुख्यतः यह परिवर्तन इसी अवस्था में हुआ होगा। जानवरों के रेवड़ों तथा अन्य संपदाओं के कारण परिवार के अंदर क्रांति हो गई। जीविका कमाना सदा पुरुष का काम रहा था, वह जीविका कमाने के साधनों का उत्पादन करता था और उनका स्वामी होता था। अब जानवरों के रेवड़ जीविका कमाने का नया साधन बन गए थे; शुरू में जंगली जानवरों को पकड़कर पालतू बनाना और फिर उनका पालन-पोषण करना - यह पुरुष का ही काम था। इसलिए वह जानवरों का मालिक होता था और उनके बदले में मिलने वाले तरह-तरह के माल और दासों का भी मालिक होता था। इसलिए उत्पादन से जो अतिरिक्त पैदावार होती थी, वह पुरुष की संपत्ति होती थी; नारी उसके उपभोग में हिस्सा बंटाती थी, परंतु उसके स्वामित्व में नारी का कोई भाग नहीं होता था।"

एंगेल्स आगे लिखते हैं -

""जांगल" योद्धा और शिकारी घर में नारी को प्रमुख स्थान देकर खुद

गौण स्थान से ही संतुष्ट था [सामाजिक जीवन और उत्पादन की पिछली विधा में - लेखक का नोट]। "सीधे-सादे" गड़रिये [सामाजिक जीवन और उत्पादन की नई विधा में पशुपालक, जिसमें पशुओं के झुंड मनुष्य के अधिकार में आ गए - लेखक का नोट] ने अपनी दौलत के जोर से मुख्य स्थान पर खुद अधिकार कर लिया और नारी को गौण स्थान में धकेल दिया। नारी कोई शिकायत न कर सकती थी। पति और पत्नी के बीच संपत्ति का विभाजन परिवार के अंदर श्रम विभाजन द्वारा नियमित होता था। श्रम विभाजन पहले जैसा ही था, फिर भी अब उसने घर के अंदर के संबंध को एकदम उलट-पलट दिया था, क्योंकि परिवार के बाहर श्रम विभाजन बदल गया था। जिस कारण से पहले घर में नारी सर्वेसर्वा थी - यानी उसका घरेलू कामकाज तक ही सीमित रहना - उसी ने अब घर में पुरुष का आधिपत्य सुनिश्चित बना दिया। जीविका कमाने के पुरुष के काम की तुलना में नारी के घरेलू काम का महत्व जाता रहा [या उतना महत्वपूर्ण नहीं रह गया था - लेखक का नोट]। अब पुरुष का काम सब कुछ बन गया और नारी का काम एक महत्वहीन योगदान मात्र रह गया।"

इसके ठीक बाद एंगेल्स जो लिखते हैं, वह स्त्री की गुलामी और पुरुष द्वारा उसकी पराधीनता से मुक्ति के लिए सबसे महत्वपूर्ण है। वे लिखते हैं -

"यहां हम अभी से ही यह बात साफ़-साफ़ देख सकते हैं कि जब तक स्त्रियों को सामाजिक उत्पादन के काम से अलग और केवल घर के कामों तक ही, जो निजी काम होते हैं, सीमित रखा जाएगा, तब तक स्त्रियों का स्वतंत्रता प्राप्त करना और पुरुषों के साथ बराबरी का हक पाना असंभव है और असंभव ही बना रहेगा। स्त्रियों की स्वतंत्रता केवल उसी समय संभव होती है जब वे बड़े पैमाने पर, सामाजिक पैमाने पर, उत्पादन में भाग लेने में समर्थ हो पाती हैं, और जब घरेलू काम उनके न्यूनतम ध्यान का तकाज़ा करते हैं। और यह केवल बड़े पैमाने के आधुनिक उद्योग के परिणामस्वरुप ही संभव हुआ है, जो न केवल स्त्रियों के लिए यह मुमकिन बना देता है कि वे बड़ी संख्या में उत्पादन में भाग ले सकें[34], बल्कि जिसके लिए स्त्रियों को उत्पादन में खींचना भी जरूरी होता है, और इसके अलावा जिसमें घर के निजी कामकाज को भी एक सार्वजनिक उद्योग बना देने की प्रवृत्ति होती है।"[35]

सामंतवाद के तहत बाद के दिनों के निरंकुश शासन का उदय, मातृ-अधिकार की पूर्ण पराजय और उसे उखाड़ फेंकने के स्वाभाविक परिणाम के रूप में, पितृ-अधिकार की सर्वोच्च सत्ता के तौर पर स्थापित होने की निरंतर और विजयी प्रक्रिया थी। एंगेल्स के ये शब्द सामंतवाद के तहत बाद के दिनों के निरंकुश शासन की गहरी पितृसत्तात्मक प्रकृति को प्रकट करते हैं -

"जब घर के अंदर पुरुष की सचमुच प्रभुता कायम हो गई, तो उसकी तानाशाही कायम होने के रास्ते में जो आखिरी बाधा थी, वह भी खत्म हो गई। मातृसत्ता के नाश, पितृसत्ता की स्थापना और युग्म-परिवार के धीरे-धीरे एकनिष्ठ विवाह की प्रथा में संक्रमण से इस तानाशाही की परिपुष्टि हुई और वह स्थाई बनी। इससे पुरानी गोत्र-व्यवस्था में दरार पड़ गई। एकनिष्ठ परिवार एक ताकत बन गया और गोत्र के अस्तित्व के लिए एक खतरा बन गया।"[36]

अतः पितृसत्ता पर आधारित एकनिष्ठ वैयक्तिक पारिवारिक संरचना, जिसमें वंश पुरुष के माध्यम से निर्धारित होता है, न कि महिला वंश के माध्यम से, न तो शाश्वत है और न ही प्राकृतिक। यह बहुत बाद में अस्तित्व में आई, यहाँ तक कि एंगेल्स के अनुसार, "यूथ-विवाह" (समूह विवाह) और "युगल विवाह" (जिसमें एक पति की एक पत्नी होती है और इसके विपरीत) से भी बाद में, जिसमें वंश अभी भी महिला वंश से ही माना जाता था, यानी नवजात शिशु माँ के वंश से संबंधित होता था, न कि पिता के वंश से। वास्तव में, एकनिष्ठ विवाह (monogamy) का आगमन महिला वंश, यानी मातृ-अधिकार के माध्यम से पुरानी वंश परंपरा, के विध्वंस के साथ ही देखा जाना चाहिए। यह उत्पादन की सामाजिक स्थितियों के विकास के दौरान अस्तित्व में आई, अधिक सटीक रूप से कहें तो निजी संपत्ति के आगमन के साथ अस्तित्व में आई जिसने महिलाओं को पुरुषों के अधीन करने में सफलता प्राप्त की। निजी पूंजी के आगमन ने ही सामाजिक स्थितियों को इस जगह पहुंचाया जहां पुरुषों द्वारा महिलाओं और मातृ-अधिकार की विश्व ऐतिहासिक हार हुई।

एंगेल्स के अनुसार, *"अब घर के अंदर भी पुरुष ने अपना आधिपत्य जमा लिया। नारी पदच्युत कर दी गई। वह जकड़ दी गई।"* यहां, दो मोर्चों पर भ्रम को दूर करना आवश्यक है। सबसे पहले, जब सतही तौर पर देखा जाता है, तो ऐसा लगता है कि अंतर्विरोध पुरुषों बनाम महिलाओं के बीच है। जबकि सार रूप में, यह वास्तव में महिला बनाम निजी संपत्ति है। यह अतीत की तुलना में, जब नई उभरी निजी संपत्ति (कम से कम रेवड़/झुंड के रूप में अपने प्राथमिक रूप में) पुरुषों के पूरे वर्ग की थी, अब और अधिक स्पष्ट रूप से दिखाई देता है। दूसरा, उसके ठीक बाद, जैसा कि एंगेल्स ने कहा, *"इससे पुरानी गोत्र-व्यवस्था में दरार पड़ गई। एकनिष्ठ परिवार एक ताकत बन गया और गोत्र के अस्तित्व के लिए एक खतरा बन गया।"* गोत्र (जेन्स) के लिए इस खतरे का मतलब है कि निजी संपत्ति भी जेन्स या पूरे कबीले यानी, सभी पुरुषों की संपत्ति नहीं रही। इसलिए सामाजिक उत्पादन की स्थितियों के विकास के दौरान निजी संपत्ति के विकास के कारण महिलाओं का पुरुषों के अधीन होना, बाद में पुरुष द्वारा पुरुष (स्वामी और दास, या जैसा कि आज है, पूंजीपति और श्रमिक) के शोषण का कारण भी बना, और इसी तर्क से, अब समय आ गया है जब सामाजिक उत्पादन की सामाजिक स्थितियों का आगे का विकास (निजी संपत्ति के उन्मूलन की ओर) पुरुषों और महिलाओं को आज के पूंजीवाद-साम्राज्यवाद से समाजवाद (साम्यवाद का पहला चरण) और फिर साम्यवाद के उच्चतम चरण में एकजुट करेगा, और इस हार को उलट देगा। हम जानते हैं, यह दिखाते हुए कि कैसे इस "महिला लिंग की हार" से एकनिष्ठ परिवार विकसित हुआ, जिसमें एक लिंग द्वारा दूसरे लिंग की अधीनता सन्निहित थी, एंगेल्स उसी समय यह भी दिखाते हैं कि कैसे समाजवाद के संघर्ष में और समाजवाद के निर्माण में महिलाओं और पुरुषों के बीच असमान संबंध के बदले में एक नई समानता को जगह मिलेगी।[37]

संक्षेप में कहें तो निजी संपत्ति के उदय के बाद उभरे हर वर्ग-विभाजित समाज में महिलाओं का उत्पीड़न एक आम बात रही है। इसके पहले धरती पर महिलाओं का उत्पीड़न और गुलामी नहीं थी। निजी संपत्ति के उदय से पहले के सभी युगों में महिलाओं को पुरुषों के समान ही सम्मान और समाज में समान दर्जा प्राप्त था। महिलाएं पुरुषों के बराबर थीं।[38] संभवतः बर्बर युग के अंत में निजी संपत्ति का उदय हुआ और इसके साथ ही महिलाएं पुरुषों की संपत्ति बन गईं। वे मुख्य रूप से "निजी संपत्ति के उत्तराधिकारियों" को पैदा करने और उनका पालन-पोषण करने की मशीन में बदल दी गईं। इस तरह एक पितृसत्तात्मक समाज अस्तित्व में आया, जो आज भी पूंजीवाद के तहत न केवल अधिरचना में बल्कि उसके आधार में भी मौजूद है।[39]

निष्कर्ष

आज हम देखते हैं कि पूंजीवाद (खासकर बड़े पैमाने के अत्याधुनिक उद्योगों) ने महिलाओं के लिए सामाजिक उत्पादन के दरवाजे खोल दिए हैं। लेकिन उसने ऐसा विरोधाभासी रूप में किया है जिसमें इसकी दूसरी तरफ महिलाएं पितृसत्ता के चंगुल में कैद हैं। महिलाओं की अंतिम मुक्ति पर एंगेल्स कहते हैं कि -

" पितृसत्तात्मक परिवार की स्थापना से यह परिस्थिति बदल गई, और एकनिष्ठ वैयक्तिक परिवार की स्थापना के बाद तो और भी बड़ा परिवर्तन हो गया। घर का प्रबंध करने के काम का सार्वजनिक रूप जाता रहा। अब वह समाज की चिंता का विषय न रह गया। यह एक निजी काम बन गया। पत्नी को सार्वजनिक उत्पादन के क्षेत्र से निकाल दिया गया, वह घर की मुख्य दासी बन गई। केवल बड़े पैमाने के आधुनिक उद्योग ने ही उसके लिए - पर अब भी केवल सर्वहारा स्त्री के ही लिए - सार्वजनिक उत्पादन के दरवाजे फिर खोल हैं, पर इस रूप में कि जब नारी अपने परिवार की निजी सेवा में अपना कर्तव्य पालन करती है, तब उसे सार्वजनिक उत्पादन के बाहर रहना पड़ता है और वह कुछ कमा नहीं सकती, और जब वह सार्वजनिक उद्योग में भाग लेना और स्वतंत्र रूप से अपनी जीविका कमाना चाहती है, तब वह अपने परिवार के प्रति अपना कर्तव्य पूरा करने की स्थिति में नहीं होती। और जो बात कारखाने में काम करने वाली स्त्री के लिए सत्य है, वह डाक्टरी या वकालत करने वाली स्त्री के लिए भी, यानी सभी तरह के पेशों में काम करने वाली स्त्रियों के लिए सत्य है। आधुनिक वैयक्तिक परिवार, नारी की खुली या छिपी हुई घरेलू दासता पर आधारित है।"

समाजवाद के तहत पत्नी या स्त्री की गुलामी पूरी तरह समाप्त हो जाएगी। यह

कैसे संभव होगा?[40]

"आज अधिकतर परिवारों में, कम से कम मिल्की वर्गों में, पुरुष को जीविका कमानी पड़ती है और परिवार का पेट पालना पड़ता है, और इससे परिवार के अंदर उसका आधिपत्य कायम हो जाता है और उसके लिए किसी कानूनी विशेषाधिकार की आवश्यकता नहीं पड़ती। परिवार में पति बुर्जुआ होता है, पत्नी सर्वहारा की स्थिति में होती है। परंतु उद्योग-धंधों के संसार में सर्वहारा जिस आर्थिक उत्पीड़न के बोझ के नीचे दबा हुआ है, उसका विशिष्ट रूप केवल उसी समय स्पष्ट होता है, जब पूंजीपति वर्ग के तमाम कानूनी विशेषाधिकार हटाकर अलग कर दिए जाते हैं और कानून की नजरों में दोनों वर्गों की पूर्ण समानता स्थापित हो जाती है। जनवादी जनतंत्र दोनों वर्गों के विरोध को मिटाता नहीं है, इसके विपरीत, वह तो उनके लिए लड़कर फैसला कर लेने के वास्ते मैदान साफ कर देता है। इसी प्रकार आधुनिक परिवार में नारी पर पुरुष के आधिपत्य का विशिष्ट रूप, और उन दोनों के बीच वास्तविक सामाजिक समानता स्थापित करने की आवश्यकता तथा उसका ढंग, केवल उसी समय पूरी स्पष्टता के साथ हमारे सामने आएंगे, जब पुरुष और नारी कानून की नजर में बिल्कुल समान हो जाएंगे। तभी जाकर यह बात साफ होगी कि स्त्रियों की मुक्ति की पहली शर्त यह है की पूरी नारी जाति फिर से सार्वजनिक श्रम में प्रवेश करें, और इसके लिए यह आवश्यक है कि समाज की आर्थिक इकाई होने का वैयक्तिक परिवार का गुण नष्ट कर दिया जाए।"

ये शब्द स्वतः ही उत्पादन के साधनों के सामाजिक स्वामित्व और निजी संपत्ति के उन्मूलन का प्रश्न उठाते हैं। इस तरह हम देख सकते हैं कि एकनिष्ठता (मोनोगैमी) और पितृसत्तात्मक परिवार की नींव कैसे रखी गई और आज इसकी क्या स्थिति है। क्या इस युग की भावी सामाजिक क्रांति, पूंजीवाद का विनाश जिसका उद्देश्य होगा, इसके वर्तमान आर्थिक आधार को पूरी तरह से मिटा देगी? हमारा उत्तर है - हाँ, यह इसे पूरी तरह से मिटा देगी। आइए देखें कि एंगेल्स इसका उत्तर कैसे देते हैं -

"अब हम एक ऐसी सामाजिक क्रांति की ओर अग्रसर हो रहे हैं जिसके परिणामस्वरुप एकनिष्ठ विवाह का वर्तमान आर्थिक आधार उतने ही निश्चित रूप से मिट जाएगा, जितने निश्चित रूप से एकनिष्ठ विवाह की पूरक, वेश्यावृत्ति का आर्थिक आधार मिट जाएगा। एकनिष्ठ विवाह की प्रथा एक व्यक्ति के - और वह भी एक पुरुष के - हाथों में बहुत-सा धन एकत्रित हो जाने के कारण, और उसकी इस इच्छा के फलस्वरुप उत्पन्न हुई थी कि वह यह धन किसी दूसरे की संतान के लिए नहीं, केवल अपनी संतान के लिए छोड़ जाए। इस उद्देश्य के लिए आवश्यक था कि स्त्री एकनिष्ठ रहे, परंतु पुरुष के लिए यह आवश्यक नहीं था। इसलिए नारी की एकनिष्ठता से पुरुष के खुले या छिपे बहुपत्नीत्व में कोई बाधा नहीं पड़ती थी। परंतु आने वाली सामाजिक क्रांति स्थाई दायाद्य धन-संपदा के अधिकार भाग को - यानी उत्पादन के साधनों को - सामाजिक संपत्ति बना देगी और ऐसा करके अपनी संपत्ति को बच्चों के लिए छोड़ जाने की इस सारी चिंता को अल्पम कर देगी। ... उत्पादन के साधनों के समाज की संपत्ति बन जाने से वैयक्तिक परिवार समाज की आर्थिक इकाई नहीं रह जाएगा। घर का निजी प्रबंधन सामाजिक उद्योग-धंधा बन जाएगा। बच्चों का लालन-पालन एक सार्वजनिक विषय हो जाएगा। समाज सब बच्चों का समान पालन करेगा, चाहे वे विवाहित की संतान हों या अविवाहित की।"

हम यह भी जोड़ना चाहेंगे कि इससे न केवल पितृसत्ता और वेश्यावृत्ति समाप्त होगी, बल्कि पृथ्वी पर पहला सच्चा एकनिष्ठ परिवार भी आएगा और पुरुष भी पहली बार सच्चे एकनिष्ठ बनेंगे, क्योंकि निजी संपत्ति के उन्मूलन के साथ ही मज़दूरी प्रथा, सर्वहारा वर्ग और अतः वे परिस्थितियां भी गायब हो जाएंगी जो महिलाओं को पैसे के लिए खुद को समर्पित करने हेतु मजबूर करती हैं। हालांकि आज यह बताना असंभव है कि भविष्य में पूंजीवाद के (आसन्न) विनाश के बाद उभरने वाले वर्गहीन समाज में यौन संबंधों की प्रकृति क्या होगी, हम केवल इतना कह सकते हैं कि यह पूरी तरह से प्रेम पर आधारित होगा, और प्रेम के अलावा किसी और चीज पर नहीं। यहाँ हमें युवा मार्क्स के पुरुष-महिला संबंध और विवाह के रूप में प्रेम के विचार को सुनना चाहिए। 1844 की पांडुलिपियों में कार्ल मार्क्स

लिखते हैं –

"इस रिश्ते के चरित्र से यह पता चलता है कि एक प्रजाति-प्राणी (species-being) के रूप में मनुष्य, मनुष्य के रूप में, कितना मनुष्य बन पाया है और खुद को समझ पाया है; ***पुरुष से महिला का रिश्ता, मनुष्य से मनुष्य का सबसे स्वाभाविक रिश्ता है।*** *इसलिए यह इस बात को प्रकट करता है कि आदमी का स्वाभाविक व्यवहार किस हद तक मानवीय हो पाया है ... यह रिश्ता इस बात को भी प्रकट करता है कि किस हद तक मनुष्य की ज़रूरत एक मानवीय ज़रूरत बन गई है; इसलिए, किस हद तक, मनुष्य के रूप में कोई दूसरा मनुष्य उसके लिए एक ज़रूरत बन गया है; किस हद तक एक ही साथ वह अपने व्यक्तिगत अस्तित्व में एक सामाजिक प्राणी है।"*[41]

इस बिंदु पर, हमें यह समझने में कोई समस्या नहीं होनी चाहिए कि महिला आंदोलन स्वाभाविक रूप से मार्क्स-एंगेल्स और लेनिन द्वारा परिकल्पित वर्गहीन समाज बनाने के लिए मजदूर वर्ग द्वारा लड़े जा रहे संघर्ष के साथ एक हो जाता है। हम देख सकते हैं कि महिला आंदोलन की स्वाभाविक दिशा किस तरह वर्गहीन समाज बनाने की ओर झुकी हुई है। केवल ऐसे समाज में, स्वाभाविक रूप से बलात्कार और यौन हिंसा या किसी भी तरह की वेश्यावृत्ति और अधीनता के लिए कोई जगह नहीं होगी, और न ही वह प्रवृत्ति और शक्ति समाज में मौजूद होगी जो एक महिला को एक माल और केवल यौन वस्तु के रूप में पेश करती है।

इसलिए आज जरूरत है महिला मुक्ति के लिए एक स्पष्ट क्रांतिकारी रास्ता अपनाने की जो सभी बुर्जुआ रास्तों से अलग हो। दुर्भाग्य से सच तो यह है कि बलात्कार और यौन हिंसा जल्द ही रुकने वाली नहीं है, बल्कि जब तक महिलाओं को माल और सेक्स ऑब्जेक्ट बनाने के विभिन्न माध्यम इसी गति से बढ़ते रहेंगे और इन सबके लिए जिम्मेदार व्यवस्था कायम रहेगी और फलती-फूलती रहेगी, तब तक ये कभी नहीं रुकेंगी। अगर हम वाकई महिलाओं पर बढ़ते अत्याचारों से चिंतित हैं तो हमें उन सभी संरचनाओं का विरोध करना होगा और उन्हें नष्ट करना होगा जो महिलाओं पर वर्चस्व और उनके वस्तुकरण (कमोडिफिकेशन) को बढ़ावा देती हैं। अगर इसके लिए समाज में क्रांति की जरूरत है, जो कि है, तो हमें उसके लिए भी तैयार रहना होगा। आज पूरी दुनिया में यही स्थिति है। इसलिए हमें बार-बार इतिहास के 'मृत्युदंड' की ओर लौटना पड़ेगा। मानवता के भविष्य की चिंता हमें इस 'मृत्युदंड' से बचने के लिए एकमात्र रास्ता अपनाने के लिए मजबूर करती है, और इसके लिए हमें इस मृत्युदंड के असली हकदार और इतिहास के मुख्य अपराधी, जो कोई और नहीं बल्कि पूंजीवाद-साम्राज्यवाद है, के गले में फंदा डालना होगा और अंततः इतिहास के आदेश का निष्पादन करना होगा। इसके अलावा कोई रास्ता नहीं है।

हमें उम्मीद है कि इस सम्मेलन में भाग लेने वाले साथी हमारे निष्कर्ष से सहमत होंगे। आज की परिस्थितियां खुद ही यह उद्घोषित कर रही हैं कि इतिहास के आदेश का अनुपालन स्वयं इतिहास के साथ और उसे आगे बढ़ाने वाली शक्तियों के उन्मुक्त विकास के रूप में एक ऐसा न्याय होगा, जो पूरी मानवता के हित में है। महिलाओं की मुक्ति अपरिहार्य है, लेकिन यह याद रखना होगा कि यह मुक्ति केवल उन उत्पादक शक्तियों की मुक्ति से ही संभव है जो पूंजी के गुलामी भरे सामाजिक संबंधों में कैद और नष्ट हो रही हैं। आइए, हम सब मिलकर पूंजी सहित गुलामी की सभी जंजीरों को तोड़ने के लिए आगे बढ़ें। अन्यथा, हम सबको उस दंड का भागी बनना पड़ेगा, जो पूंजी की विनाशलीला के रूप में इस 'मृत्युदंड' से भी अधिक भयानक होगी, तथा मानवता को 9 अगस्त 2024 और 16 दिसंबर 2012 से भी अधिक काले दिनों का सामना करना पड़ेगा। जो भी हो, हमारे भविष्य की दोहरी और विपरीत संभावनाएं हमारे सामने मुंह बाए खड़ी हैं। या तो पूंजी व सभी प्रकार के शोषण का विनाश या स्वयं मानवता का विनाश, यहां से आगे बढ़ने का फैसला हमारे हाथ में है।

आइये हम लेनिन के उन शब्दों के साथ अपनी बात समाप्त करें जो रूसी बोल्शेविक क्रांति की दूसरी वर्षगांठ पर कहे गए थे -

"उन झूठ बोलने वालों का नाश हो जो आज सबके लिए स्वतंत्रता और समानता की बात कर रहे हैं, जबकि एक उत्पीड़ित लिंग है, जबकि उत्पीड़क वर्ग मौजूद हैं, जबकि पूंजी और शेयरों का निजी स्वामित्व है, जबकि खाए-अघाए लोग हैं जिनके पास ज़रूरत से अधिक रोटियां हैं जो भूखों को गुलामी में रखते हैं। सभी के लिए स्वतंत्रता नहीं, सभी के लिए समानता नहीं, बल्कि एक संघर्ष उत्पीड़कों और शोषकों के खिलाफ, उत्पीड़न और शोषण की हर संभावना

का खात्मा - यही हमारा नारा है! ... उत्पीड़ित लिंग के लिए स्वतंत्रता और समानता! उत्पीड़कों के खिलाफ संघर्ष, पूंजीपतियों के खिलाफ संघर्ष! यही हमारा संग्रामी नारा है, यही हमारा सर्वहारा सत्य है, पूंजी के खिलाफ संघर्ष का सत्य।"[42]

एंडनोट -

1. एनसीआरबी वार्षिक रिपोर्ट 2022: भारत में महिलाओं के खिलाफ अपराध के 4,45,256 मामले दर्ज किए गए (हर 51 मिनट में एक!), जिसमें 'पति द्वारा क्रूरता' (31.4%), 'अपहरण' (19.2%), 'असॉल्ट' (18.7%), और 'बलात्कार' (7.1% या 31,516) शामिल हैं।

पिछले कुछ वर्षों में ये संख्या बढ़ी ही है, लेकिन अध्ययनों से पता चलता है कि भारत में बलात्कार के केवल 6% मामले ही रिपोर्ट किए जाते हैं, जिससे वास्तविक संख्या प्रति वर्ष लगभग 5.5 लाख बलात्कार या हर मिनट एक बलात्कार की हो जाती है! (bbc.com/news/magazine-38796457)

2. वैष्णा रॉय, "लड़कों को कौन शिक्षित करेगा?" (Who will educate the boy child?) (फ्रंटलाइन, 3 सितंबर 2024)"

3. *"बलात्कार के साथ अकल्पनीय हिंसा और भीतरी अंगों के साथ बर्बरता उन वीभत्स पोर्न वीडियो की तर्ज पर हो रही लगती है, जिनमें औरतों के साथ हिंसक से हिंसक सेक्स दिखाया जाता है। पंद्रह साल की बच्ची के साथ हुई हैवानियत पोर्न वीडियो चलाकर करने की बात बलात्कारियों ने स्वीकारी है। ऐसे कुछ वीडियो में बलात्कार करते-करते बच्चियों, लड़कियों, औरतों को मार डाला जाना दिखाया जाता है। भरत डोगरा ने हाल ही में जापान के एक अध्ययन के हवाले से यह बताया है कि कैसे वहां अस्सी के दशक के मध्य से ही पोर्नोग्राफी आसानी से उपलब्ध होने लगी तो बलात्कार और यौन-हिंसा के अपराध बढ़ने लगे, जबकि अन्य किस्म के अपराध कम हुए। ऐसे पोर्न वीडियो आज खासे लोकप्रिय हो रहे हैं। हर तबके में और अपने गांव-घर-परिवार से उजड़ कर शहरों में काम की तलाश में आये नौजवानों के बीच भी।"*

जेन ब्रेमेन द्वारा हीरा तराशी मजदूरों की निजी यौन जिंदगी में पश्चिमी सेक्स-बाजार के प्रत्यक्ष हस्तक्षेप के बारे में जिस तरह का इशारा किया गया था, वह भी इसी बात को साबित करता है। जेन ब्रेमेन के इस अध्ययन से यह भी पता चलता है कि किस तरह इस बाजार ने श्रमजीवियों की कठिन जीवन-परिस्थितियों का उपयोग अपने आत्म-विस्तार के लिए करना बहुत पहले ही शुरू कर दिया था। वे लिखते हैं- *"मैंने पाया कि सूरत के बाजार में एक नया पोर्न कैसेट पहुंचा था। तरह-तरह के ढेर सारे पोर्न कैसेट पहले ही खुलेआम उपलब्ध थे। महज दो सौ रुपये में उपलब्ध इस सामग्री की बड़ी भारी मांग है। खासकर हीरा तराशने वाले मजदूरों के बीच। जिन कारखानों में ये नौजवान काठियावाड़ी काम करते हैं वे नियमित स्वेटशॉप्स है, जहां उनसे जम कर काम लिया जाता है। काम खत्म होते ही रात को कारखाना उमस भरी मांद में बदल जाता है। लड़के तो लड़के ही रहेंगे। खासकर जब वे अकेले रह रहे हों और उनके संगी-साथी भी लड़के हों। सब मिलकर पैसे जमा कर खाली वक्त में औरतों की ये गंदी तस्वीरें और फिल्में देखते हैं। इनमें से एक शौकीन ने दिसम्बर 1992 के शुरू में मेरा ध्यान एक नई वीडियो क्लिप की ओर खींचा। यह परपीड़क [सैडिस्टिक] पोर्न कैसेट पश्चिम से आई थी। इसकी ढेर सारी कॉपियां तैयार की गई थीं। इसमें एक नौजवान द्वारा गोरे नस्ल और भूरे बालों वाली लड़की के साथ बलात्कार दिखाया गया था, जो क्रूर बलात्कार के दौरान ही मर जाती है।"* (स्रोत: 'फ़िलहाल' पत्रिका, 2013)

4. यहाँ नैतिकता (morality) से हमारा तात्पर्य एक नैतिक विचारधारा से नहीं है जो समाज पर, पूरी तरह या आंशिक रूप से, तमाम कड़े और निरंकुश (नैतिक) मूल्यों का पालन करने की माँग को थोपता है। नैतिकता की मार्क्सवादी समझ यह है कि यह किसी व्यक्ति के व्यवहार या लोगों के पारस्परिक संबंधों का एक गुण है जिसे सामाजिक-ऐतिहासिक रूप से निर्धारित संदर्भ में लिया जाता है, यानी इसे सामाजिक-ऐतिहासिक गति के संबंध में लिया जाना चाहिए और इसलिए वर्ग समाज में वर्गों के संदर्भ में समझा जाना चाहिए। यदि मनुष्य अमूर्त नहीं है, तो उसकी नैतिकता कैसे अमूर्त हो सकती है? मनुष्य की नैतिकता निश्चित रूप से ऐतिहासिक तौर पर निर्धारित सामाजिक अस्तित्व से निर्धारित होती है। यह अलग-अलग परिस्थितियों में और समाज में उस व्यक्ति के वर्ग की स्थिति के अनुसार अलग-अलग होगी। इस अर्थ में, समाज में प्रचलित कोई भी आदर्श, नैतिक मूल्य या सांस्कृतिक मानक इतिहास के किसी विशेष मोड़ पर मौजूद वास्तविक दुनिया का प्रतिबिंब है। यदि वास्तविक दुनिया बदलती है, तो नैतिकता या नैतिक मूल्य भी बदलेंगे। यही कारण है कि एक विशेष

नैतिक मूल्य उभरता है, विकसित होता है और फिर गायब हो जाता है या गुणवत्ता के एक स्तर से दूसरे स्तर पर चला जाता है। ठोस ऐतिहासिक परिस्थितियों और प्रक्रियाओं से कट जाने पर नैतिकता अपना अर्थ और अस्तित्व दोनों खो देती है। नैतिकता एक युग से जुड़ी होती है और उसमें हमेशा उस युग की वर्गीय अंतर्वस्तु होती है। उस पर उन सामाजिक बंधनों की छाप होती है, जिनसे वह निकलती है। वर्गीय समाज में नैतिकता का सार यही है। **इसलिए यहाँ यह सहसंबंधित करना ज़रूरी है कि जब हम आज के नैतिक पतन और सड़न की बात करते हैं, तो हम पूँजीवादी समाज के लगभग पूर्ण सड़न की बात कर रहे हैं। इसका मतलब है कि हम नैतिकता की मृत्यु को वर्तमान पूँजीवादी-साम्राज्यवादी दुनिया के मूल विलक्षण के रूप में देखते हैं, जो इस समाज में उत्पादन के साधनों के स्वामित्व के बारे में निश्चित सामाजिक संबंधों के वास्तविक और वस्तुगत चरित्र को स्पष्ट रूप से उजागर करती है। इसलिए इस युग के नैतिक पतन के खिलाफ़ लड़ने का मतलब है इस समाज को समग्र रूप से बदलने और इसके अलग सामाजिक संबंधों पर पुनर्गठन के लिए लड़ना।**

5 . निर्भया कांड के बाद बलात्कार की ऐसी ही कई बर्बर घटनाएं कुछ ही महीनों बाद सामने आईं। 15 अप्रैल 2013 को दिल्ली में पांच साल की बच्ची के साथ बर्बरतापूर्वक सामूहिक बलात्कार किया गया। फिर 26 अप्रैल 2013 को दिल्ली के एक सार्वजनिक शौचालय में छह साल की बच्ची बेहोशी की हालत में मिली, उसका गुप्तांग काट दिया गया था। फिर 17 अप्रैल 2014 को मध्य प्रदेश के सिवनी जिले में पांच साल की बच्ची के साथ बलात्कार किया गया और उसकी गला घोंटकर हत्या कर दी गई। ऐसी घटनाओं की सूची लंबी है।

6. केविन पासमोर, फासीवाद: एक बहुत छोटा परिचय (2002)। उद्धरण में "पुरुष" शब्द पर ध्यान दें।

7. भारत में, बाबरी मस्जिद के विध्वंस की वीभत्स सांप्रदायिक घटना और उसके बाद पूरे भारत में हुए दंगों के बाद से हम इसे कदम दर कदम मजबूत होते हुए देख सकते हैं।

8 . भारत में भी मोदी और आरएसएस-भाजपा गठबंधन के संरक्षण में फासीवाद का उदय उन्हीं सामाजिक परिस्थितियों के परिणामस्वरूप हुआ जो पूर्वी जर्मनी में मौजूद थीं। यहां भी कृषि में पूंजीवादी विकास प्रशियाई पथ से हुआ। इसलिए इसमें कोई आश्चर्य नहीं है कि बीते वर्षों में महिलाओं पर अत्याचारों की मात्रा और गुणवत्ता में वृद्धि हुई है, जैसा कि एक फासीवादी सरकार और राज्य से अपेक्षित है जो कि पूर्ववर्ती सामंती मूल्यों और वित्तीय पूंजी के मूल्यों के मिश्रण के आधार पर उभरा है। और इसलिए भारत में महिला आंदोलन को एक और अधिक भ्रष्ट दुश्मन से जूझना होगा जैसा कि उसे जर्मनी में भी पितृसत्ता के खिलाफ संघर्ष में करना पड़ा था, क्योंकि ऐसा फासीवादी राज्य पितृसत्ता को नस्लीय-जातीय और सांप्रदायिक पितृसत्ता में बदलने की कोशिश करेगा।

9. केविन पासमोर (ibid 6)

10. भारत के लिए भी यही सत्य है।

11. ब्रैकेट के शब्द लेखक द्वारा जोड़े गए हैं।

12. केविन पासमोर लिखते हैं कि इन्होंने जनतंत्र, नारीवाद और समाजवाद की बढ़ती लहरों को कमज़ोर करने के लिए विरोधी जन आंदोलनों को प्रायोजित किया - *"जर्मन और इतालवी अभिजात वर्ग ने 1914 में अपने देशों को युद्ध में धकेल दिया, इस उम्मीद में कि देशभक्ति का जोश उन्हें अपने घरेलू दुश्मनों को कुचलने की अनुमति देगा।"* लेकिन ऐसा सोचना एक बड़ी गलती है कि तत्कालीन सामंती और बड़े भूस्वामी शासक वर्गों ने अपने देशों को युद्ध में धकेल दिया। यह उनके एकाधिकारवादी पूंजीपति वर्ग की इच्छा थी कि वे विश्व बाजार और कच्चे माल के स्रोतों पर नियंत्रण स्थापित करने के लिए उपनिवेशों को हड़प लें, जिसके कारण उन्हें युद्ध का सहारा लेना पड़ा। फिर भी यह सच है कि साम्राज्य की इच्छा और जनतंत्र व समाजवाद के प्रति घृणा की भावना दोनों में समान रूप से मौजूद है - पूर्ववर्ती सामंती वर्ग से बने बुर्जुआ वर्ग में और सबसे विकसित पूंजीपति वर्ग में जो सबसे घृणित मूल्यों से ओतप्रोत है, और जिसका नेतृत्व वित्तीय पूंजी के सबसे खूंखार साम्राज्यवादी तत्वों द्वारा किया जाता है।

पासमोर लिखते हैं - *"[वेबरियनों का मानना था कि] फासीवाद मुख्य रूप से एक आधुनिकता-विरोधी आंदोलन था, जो पूर्व-औद्योगिक अभिजात वर्ग और*

निम्न पूंजीपति वर्ग के अभिसरण (कन्वर्जेन्स) से उत्पन्न हुआ था।" लेकिन यह फिर से गलत है। फासीवाद वास्तव में पूर्व-औद्योगिक अभिजात वर्ग के पूर्व-औद्योगिक आधुनिकता-विरोधी मूल्यों व निम्न पूंजीपति वर्ग (जो एकाधिकार पूंजी के शोषण के बढ़ते जाल के कारण पूर्ण अधिग्रहण के कगार पर हैं) के हितों का एकाधिकारी पूंजीपति वर्ग के हितों के साथ अभिसरण का परिणाम था, जो ही श्रम और प्राकृतिक संसाधनों की दुनिया भर में लूट और उससे एकत्र धन की मदद से फासीवादी ताकतों को पोषित करके इसे एक जन आंदोलन में बदलने में सक्षम था।

13. अगस्त बेबेल, 'महिला और समाजवाद' का परिचय (1879)

14. सितंबर 1936 में नूर्नबर्ग पार्टी रैली में हिटलर ने कहा था, "यदि आज एक महिला वकील महान उपलब्धियां हासिल करती है और पास में ही एक माँ रहती है जिसके पाँच, छह, सात बच्चे हैं, और वे सभी स्वस्थ और अच्छी तरह से पले-बढ़े हैं, तो मैं कहूँगा: हमारे लोगों के शाश्वत लाभ के दृष्टिकोण से, वह महिला जिसने बच्चों को जन्म दिया और उनका पालन-पोषण किया और जिसने भविष्य में हमारे राष्ट्र को जीवन दिया, उसने ज्यादा कुछ हासिल किया है और अधिक कार्य किया है!" (जिल स्टीफेंसन, 'नाजी जर्मनी में महिलाएँ' 2014)

15. विक्टोरिया डी ग्राज़िया ने 'हाउ फ़ासिज़्म रूल्ड वीमेन' (1992) में लिखा है कि *"नाज़ियों ने महिलाओं को नस्ल, संस्कृति और भावनाओं के संरक्षक के रूप में घर में वापस धकेल दिया, और उन्होंने समाज और घरेलू जीवन में गहरी पैठ बनाने के लिए अधिनायकवादी संगठनों का गठन किया। थर्ड राइक ने बेधड़क सुजननवादी (यूजेनिसिस्ट) सिद्धांतों को बढ़ावा दिया, और इसके कार्यक्रमों का समापन एक भयावह नस्ल युद्ध में हुआ जिसका सर्वोपरि लक्ष्य ... महिलाओं और बच्चों को भी व्यवस्थित रूप से मारना था।"*

16. ऐसे सभी तथ्यों की विस्तृत जानकारी के लिए हम यहां जिल स्टीफेंसन की ऊपर बताई गई किताब (ibid 14) का संदर्भ लेते हैं। उन्होंने लिखा कि नाजी आंदोलन किसी भी अन्य चीज से ज्यादा 'नस्ल' से जुड़ा था और उनका मानना था कि मानव जाति मुख्य रूप से विभिन्न नस्लों में विभाजित है। वे इस विभाजन को किसी भी अन्य विभाजन से अधिक मौलिक मानते थे। इसके पीछे एक खास कारण था। वे मानव जाति के नस्लीय विकास के उन छद्म वैज्ञानिक सिद्धांतों में विश्वास करते थे जो 1900 से प्रचलन में आ गए थे। तदनुसार, वे सोचते थे कि आर्यन नस्ल, जिसमें, जैसा कि उनका मानना था, अधिकांश जर्मन और साथ ही डच और स्कैंडिनेवियाई जैसे 'नॉर्डिक' लोग शामिल थे, सबसे श्रेष्ठ थी। लेकिन साथ ही, उन्होंने एक हौवा पैदा किया, मुख्यतः राजनीतिक कारणों से, कि इस सबसे श्रेष्ठ नस्ल को 'निम्न' नस्लों, जैसे स्लाव और यहूदियों, विशेष रूप से यहूदियों से खतरा था। अतः इसे संबोधित करने के नाम पर, उन्होंने 'निम्न' नस्लों के खिलाफ एक युद्ध शुरू कर दिया। लेकिन इसके लिए, जैसा कि उनकी गतिविधियों से समझा जा सकता है, उन्हें उस श्रेष्ठ नस्ल के भीतर भी युद्ध छेड़ना पड़ा ताकि उन लोगों से छुटकारा पाया जा सके जो इसके लिए योग्य नहीं थे, वफ़ादार नहीं थे, राजनीतिक-वैचारिक रूप से विश्वसनीय नहीं थे, व इसके लिए सक्षम नहीं थे। उन्होंने सोच विचार के आधार पर आर्यन नस्ल के लोगों को "मूल्यवान" और "मूल्यहीन" पुरुषों और महिलाओं में वर्गीकृत किया। उदाहरण के लिए, "मूल्यवान" वे लोग थे जिनके पास आर्यन पूर्वजों के माध्यम से अन्य नस्लों के लोगों से विवाह करने और प्रजनन करने के कारण कोई कथित 'वंशानुगत दोष' नहीं था। इसके अलावा, ऐसे शुद्ध आर्य भी "बेकार" हो सकते थे यदि वे 'असामाजिक' या वंशानुगत रूप से अस्वस्थ हों जिन्हें जीवन भर संस्थागत देखभाल और चिकित्सा सहायता की आवश्यकता हो। 'असामाजिक' वे लोग थे जो शराबी, समलैंगिक, आलसी थे और काम से कतराते थे। अकेली मांएं या यहाँ तक कि वे लोग जो नाज़ियों के बताए अनुसार अपने घर और परिवार को नियंत्रित नहीं कर सकते थे, उन्हें भी 'असामाजिक' और इसलिए "बेकार" माना जाता था। नाजी शासन में इन सभी का भविष्य अंधकारमय होता जा रहा था, क्योंकि नाजी शासन ने ऐसे कानून और अन्य सामाजिक-राजनीतिक प्रतिबंध बनाए थे, जो उन्हें "मूल्यवान" नागरिकों से अलग-थलग करते थे और उन्हें सभी सरकारी सहायता और कल्याणकारी योजनाओं से वंचित करते थे। सबसे महत्वपूर्ण बात यह थी कि उन्हें प्रजनन करने से रोक दिया गया था। इतना ही नहीं, जो लोग विरोध करते थे, उन्हें यातना शिविरों में भेज दिया जाता था, जहाँ वे भूख से दम तोड़ने के लिए विवश थे। उनमें से कई को तो सीधे हत्या या भयंकर

यातनाओं के बाद मौत का सामना भी करना पड़ा। इनके अलावा, ऐसे लोग भी थे जो राजनीतिक रूप से अविश्वसनीय थे, जैसे केपीडी (कम्युनिस्ट पार्टी) या एसपीडी (सोशलिस्ट पार्टी) से जुड़े संगठनों के कार्यकर्ता, नाजीवाद के विरोधी, शांतिवादी और संदिग्ध लोग, और विशेष रूप से नारीवादी, जिन्हें नाजी घृणा की दृष्टि से देखते थे। ऐसे अविश्वसनीय तत्वों में से ज्यादातर को, जो हजारों और लाखों की संख्या में थे गिरफ्तारी, यातना, उत्पीड़न और मृत्यु का सामना करना पड़ा, भले ही वे शुद्ध आर्यन नस्ल के थे।

17. रुचिरा गुप्ता, *'फासीवाद के अंतर्गत नारीवाद'* (पॉलिसी वॉच, खंड 8, अंक 5, जून 2019)

18. *'बिल्डिंग द न्यू मैन'* (फ्रांसेस्को कैसाटा, 2011) पुस्तक के चौथे अध्याय (क्वालिटी थ्रू क्वांटिटी: यूजेनिक्स इन फासिस्ट इटली) को देखें, जिसमें इस बहस का विस्तार से वर्णन किया गया है कि कैसे फासीवादी राजकीय नस्लवाद *सिद्धांत और व्यवहार* दोनों में मात्रा से गुणवत्ता (क्वांटिटी से क्वालिटी) की ओर बढ़ता गया, निकोला पेंडे (इतालवी वैज्ञानिक जो बाद में फासीवाद समर्थक बन गए) की यूजेनिक्स की आध्यात्मिक और बायोटाइपोलॉजिकल व्याख्या के माध्यम से, जो अभी भी "नॉर्डिक, अवधारणा-विरोधी चयनात्मक यूजेनिक्स" के विरोध में थी। हालाँकि विरोध केवल फॉर्म में था, जबकि उसका सार एक ही था।

पेंडे लिखते हैं – *"इसे (यूजेनिक्स विज्ञान की उनकी आध्यात्मिक और बायोटाइपोलॉजिकल व्याख्या को) कुछ यूजेनिसिस्ट विज्ञानिकों के कुख्यात यूजेनिक्स विज्ञान से एक नहीं समझना चाहिए, जो मानते हैं कि नस्ल को दूर के या आदिम जातियों के व्यक्तियों के रक्त को पतनशील आबादी के धड़ पर प्रत्यारोपित करके नस्ल को सुधारा या शुद्ध किया जा सकता है, या दोनों लिंगों के उन व्यक्तियों की शल्य चिकित्सा द्वारा नसबंदी की वकालत करना जिनमें आनुवंशिक रूप से संक्रामक बीमारी है।"* (1939) उनका सिद्धांत ऑर्थोजेनेसिस का सिद्धांत था, जिसका अर्थ है *"मनुष्यों का नियमित, स्वस्थ और सामंजस्यपूर्ण गठन", "गर्भाधान के क्षण से, अंतर्गर्भाशयी जीवन की शुरुआत से ही मानव को वैज्ञानिक नियंत्रण में रखकर ... फिर, इस पहले गर्भाधान और जन्मपूर्व ऑर्थोजेनेटिक कार्य के बाद, गर्भवती मां के स्वास्थय के आधार पर, हम जन्म के पहले दिनों से विकास की सुरक्षा और सुधार के साथ आगे बढ़ते हैं, और यही होता है जन्म-पश्चात ऑर्थोजेनेसिस को लागू करना।"* इसमें, हम अन्य तरीकों और साधनों द्वारा शुद्ध नस्ल के विचार की पुनःप्राप्ति देख सकते हैं।

विक्टोरिया ग्राज़िया भी यह कहती हैं कि *"मुसोलिनी 1930 के दशक के अंत में हिटलर के [शुद्ध नस्ल के] प्रभाव में आ गया था।"* (ibid 15)

19. शाहरज़ाद मोजाब, *'मार्क्सवाद और नारीवाद'* (2015) पृ.12

20. लेनिन लिखते हैं – *"इस बात को स्पष्ट रूप से कहना होगा कि सिवाय साम्यवाद के महिलाओं की मुक्ति संभव नहीं है। महिलाओं की मानवीय और सामाजिक स्थिति तथा उत्पादन के साधनों पर निजी मिल्कियत के बीच के अटूट संबंध को मजबूती से सामने लाना चाहिए। इससे हमारी नीति और नारीवाद के बीच एक स्पष्ट और अमिट अंतर रेखा खिंच सकेगी। तथा इससे महिला प्रश्न को सामाजिक प्रश्न से, मजदूर वर्ग के प्रश्न से, जोड़ने का आधार प्राप्त होगा, जो इसे सर्वहारा के वर्ग संघर्ष और क्रांति के साथ मजबूती से जोड़ेगा। कम्युनिस्ट महिला आंदोलन अपने आप में एक जनआंदोलन होना चाहिए। इसे न सिर्फ सर्वहारा वर्ग का, बल्कि पूंजीवाद व सभी शासक वर्गों द्वारा हर उत्पीड़ित, शोषित व दमित तबके के व्यापक जनआंदोलन का एक हिस्सा होना चाहिए। इसमें सर्वहारा के वर्ग संघर्ष और एक कम्युनिस्ट समाज बनाने के उसके ऐतिहासिक मिशन में महिला आंदोलन का महत्व है। हमें इस पर गर्व करना चाहिए कि हमारी पार्टी में, व कम्युनिस्ट इंटरनेशनल में, क्रांतिकारी महिला तबके का उत्तम अंश है। लेकिन यही काफी नहीं है। हमें शहरों और गांवों की लाखों मेहनतकश महिलाओं को अपने संघर्षों और खासकर समाज के साम्यवादी पुनर्गठन के लिए अपनी तरफ लाना होगा। महिलाओं के बगैर कोई सच्चा जनआंदोलन हो ही नहीं सकता।"* (क्लारा जेटकिन, 'महिला प्रश्न पर लेनिन', 1920)

21. फुटनोट 26 व 29 में और अधिक चर्चा।

22. पृष्ठ स. 32 में और अधिक चर्चा।

23. दिमित्रिओस हालिकियास, *'द यंग मार्क्स ऑन फ्यूडलिज्म इज़ द डेमोक्रेसी ऑफ़ अनफ्रीडम'* (कैम्ब्रिज यूनिवर्सिटी प्रेस, नवंबर 2023)

24. यह इस तथ्य (आर. जी. कर घटना के विरोध से संबंधित) से मेल खाता

है कि ममता बनर्जी, जो राज्य की मुख्यमंत्री हैं, ने स्वयं प्रदर्शनकारियों को खुली धमकी दी, जबकि उनकी पार्टी के कार्यकर्ताओं (माफियाओं) ने महिला प्रदर्शनकारियों को उनके घरों के सामने 'मुंह काला करने' की धमकी दी। यह इस दौर में सभी शासक वर्गीय पार्टियों में सार्वजनिक नैतिकता और शर्म के पूर्ण विनाश को दर्शाता है, चाहे वह फासीवादी भाजपा हो या कोई अन्य पार्टी। सभी एक दूसरे के खिलाफ प्रतिस्पर्धा कर रहे हैं। हमें याद रखना चाहिए कि हाल ही में भाजपा शासित मणिपुर में क्या हुआ था, जहां नस्लीय घृणा से भरी भीड़ ने पुलिस-प्रशासन की मौजूदगी में तीन महिलाओं को नंगा करके घंटों घुमाया, साथ ही उनमें से एक का यौन उत्पीड़न किया और उसके भाई को मार डाला। इसमें कारगिल युद्ध के एक सैनिक की पत्नी भी शामिल थी, जबकि वहां कई महिलाओं के साथ ऐसी घटनाएं हो चुकी हैं। मणिपुर की तत्कालीन महिला राज्यपाल के साथ ही भाजपा के विधायकों सांसदों ने भी इस पर चिंता जताई और केंद्र से हस्तक्षेप करने के लिए बार-बार अनुरोध किया, लेकिन मोदी नहीं झुके और चीजों को खुलेआम होने दिया। ऐसी कोई रिपोर्ट नहीं है कि उन्होंने एक बार भी फोन करके सीएम को इसके लिए फटकार लगाई हो। आज भी, जब हम ये शब्द लिख रहे हैं, वहां भाजपा सरकार का राक्षसी राज जारी है। बलात्कार और हिंसा के मामलों में कोई राहत नहीं है।

ऐसे उदाहरण भाजपा शासित राज्यों में खूब मिल सकते हैं जहां, यूपीए शासन में दिल्ली में हुई निर्भया और टीएमसी शासित बंगाल में अभया मामले के विपरीत, विरोध प्रदर्शन की भी अनुमति नहीं दी गई। आर. जी. कर मामले में भाजपा ने आंदोलन किया और खूब शोर मचाया, लेकिन हम जानते हैं कि जब ऐसी घटनाएं उनके शासित राज्यों में होती हैं, तो भाजपा सरकारें आंदोलन की भी अनुमति नहीं देती हैं। हमें कई घटनाओं को ध्यान में रखना चाहिए जहां भाजपा कार्यकर्ता खुद अपराधी रहे हैं या खुले तौर पर उनका समर्थन या बचाव किया है - उन्नाव (2017), कठुआ (2018), हाथरस (2020), महिला पहलवानों का विरोध (2023), बीएचयू (2023) ...

25. महिलाओं को आज 'माल' के रूप में 'स्वतंत्र रूप से' और 'अपनी स्वतंत्रता (सहमति) के साथ' बाजार में लाया जा रहा है, ठीक वैसे ही जैसे समाज की एक बड़ी आबादी को हर दिन उजाड़कर 'अपनी स्वतंत्रता' के साथ श्रम बाजार में लाया जाता है। धन्नासेठ मालिक महिलाओं की 'स्वतंत्रता' के साथ वैसा ही धोखा कर रहे हैं जैसा वे एक मजदूर की 'स्वतंत्रता' के साथ करते हैं।

26. शाहरज़ाद मोजाब, *मार्क्सवाद और नारीवाद।*

27. इस समाज द्वारा हर उम्र के पुरुषों की बढ़ती यौन इच्छाओं को संतुष्ट करने के लिए किए गए उपाय और व्यवस्थाएं (विवाह और वेश्यावृत्ति) कम पड़ रही हैं। नतीजा हमारे सामने है। अनियंत्रित यौन इच्छाएं परिवार और रिश्तेदारों में बच्चों को भी अपना शिकार बना रही हैं। इसके अलावा, इस संबंध में बाजार द्वारा अपनाए गए तंत्रों का किशोरों के यौन मनोविज्ञान पर भी जबरदस्त प्रभाव पड़ना तय था। जब कोई किशोरी किसी आधुनिक माध्यम में दिखाए गए अत्यधिक कामुक और आकर्षक स्त्री शरीर को देखती है, तो स्वाभाविक रूप से उसके मन में भी वैसी ही कामुक मुद्राओं की इच्छा जागृत होती है। खुद को एक इंसान के बजाय सिर्फ एक शरीर के रूप में स्वीकार करने की उसकी यह पहली प्रवृत्ति और स्थिति पूरी तरह से 'स्वैच्छिक' लगती है, लेकिन इसकी पूरी पृष्ठभूमि पहले से मौजूद है, जो जबरन इस प्रवृत्ति को जन्म देती है। हालांकि, 'बाजार के अदृश्य हाथ' की तरह, बाहरी तौर पर यह पृष्ठभूमि भी अदृश्य ही रहती है। दूसरी ओर, उदाहरण के लिए, जिस तरह से एक किशोर इंटरनेट पर पोर्न फिल्म में एक महिला को देखता है, उसके दिमाग में महिला की पहली छवि एक सेक्स ऑब्जेक्ट की होती है। एक किशोर का स्त्री से पहला रिश्ता माँ और बहन का होता है, लेकिन किशोरों की बढ़ती स्वाभाविक रुचियों की पूर्ति में इस रिश्ते की स्वाभाविक रूप से सीमाएँ होती हैं। बढ़ती उम्र की स्वाभाविक और जन्मजात माँगें (प्यार और स्नेह आदि) समाज में स्त्री देह की माँग बढ़ाने वाले उपरोक्त उपायों और साधनों के आधिक्य में कहीं खो जाती हैं। अपनी माँ और बहन के अलावा, इन माध्यमों से वह अपने इर्द-गिर्द स्त्रियों का जो रूप सबसे अधिक देखता है, उससे उसके मन में स्त्रियों की एक बहुत ही एकतरफा छवि बनती है। एक साथी के रूप में स्त्री की कल्पना इस माहौल में अपवाद बन जाती है। एक सेक्स ऑब्जेक्ट के रूप में स्त्री की आधुनिक छवि और बाज़ार द्वारा 'पितृसत्तात्मक' पुरुष की बेलगाम यौन इच्छाओं का अतिशोषण कई आयामों के दुष्परिणाम पैदा कर रहा है। एक ओर बलात्कार और बाल यौन शोषण में वृद्धि हुई है, वहीं दूसरी ओर वीभत्स और क्रूर यौन हिंसा में भी वृद्धि हुई है, जिसने पूरे समाज को, खासकर आज महिला समुदाय को सबसे अधिक आंदोलित किया है। सवाल यह है कि ऐसी

अकल्पनीय बर्बरता में वृद्धि का स्रोत क्या है? हमने अपने पेपर में इस पर चर्चा की है।

28. 'इंडियन जर्नल ऑफ पब्लिक हेल्थ' में 2014 में प्रकाशित एक अध्ययन से पता चलता है कि पोर्न देखने के मामले में भारत विश्व स्तर पर तीसरे स्थान पर है, जहां 12% वेबसाइट पोर्नोग्राफी को समर्पित हैं।

29. यहां तक कि शाहरजाद मोजाब, जो नारीवाद की समर्थक हैं और मार्क्सवाद और नारीवाद के बीच 'विवाह' (एक संयुक्त सहयोग) की पक्षधर हैं, कहती हैं कि हालांकि *"नारीवाद ने 1980 के दशक के सैद्धांतिक उतार-चढ़ाव के बाद से लिंग संबंधों की हमारी समझ में वास्तव में बहुत बड़ा योगदान दिया है,* ***लेकिन इसके द्वारा पूंजीवाद और पितृसत्ता को अलग कर के देखना एक राजनीतिक अंडरटेकिंग है जो ... इसका जुड़ाव उदारवाद और अधिकतम जनतांत्रिक सिद्धांत व बाजार के साथ उनके संबंधों से सुनिश्चित करता है।"*** यह स्वाभाविक है क्योंकि अगर नारीवादी सिद्धांत पूंजीवादी व्यवस्था और पितृसत्ता को उखाड़ फेंकने के खिलाफ है, तो उसे इसके साथ मिलीभगत करनी होगी और बाजार सहित हर संभव तरीके से अपने मिशन को आगे बढ़ाना होगा। नारीवादी सिद्धांत के लिए अंतिम महिला मुक्ति का मुद्दा एक दिखावा है। यह महिलाओं के मुद्दे को केवल लिंग पहचान और सांस्कृतिक मुद्दे के रूप में देखता है। इसलिए इसे बाजार के साथ एक मधुर संबंध बनाए रखना होगा और उसके उद्देश्यों को आगे बढ़ाना होगा, भले ही वह महिलाओं के खिलाफ हो। **और यह ऐसे समय में हो रहा है जब धार्मिक और बाजारवादी कट्टरपंथ दुनिया भर में 'महिलाओं के खिलाफ युद्ध' में लगे हुए हैं,** जैसा कि शाहरजाद मोजाब ने सही दावा किया है।

30. इस प्रारंभिक समाज पर पूर्ण प्रकाश डालने के लिए हम एफ. *एंगेल्स* की पुस्तक *'परिवार, निजी संपत्ति और राज्य की उत्पत्ति'* के अलावा *ऑगस्ट बेबेल* की पुस्तक *'वीमेन एंड सोशलिज्म'* का भी संदर्भ लेना चाहेंगे।

31. ***"कभी-कभी कबीलों (जेन्स) में महिलाएं कठोरता से शासन करती थीं, और उस पुरुष के लिए मुश्किल स्थिति थी जो आम जीविका में अपना हिस्सा देने के लिए बहुत आलसी या बहुत अनाड़ी था। उसे बाहर निकाल दिया जाता था और वह अपने ही कबीले में वापस जाने के लिए मजबूर हो जाता था, जहाँ उसे स्वागत मिलने या स्वीकार किए जाने की संभावना नहीं थी, या किसी अन्य कबीले में प्रवेश पाने के लिए मजबूर हो जाता था जहाँ उसे कम कठोरता से आंका जाता हो।*** *लिविंगस्टोन ने अपनी पुस्तक "मिशनरी ट्रैवल्स एंड रिसर्च इन साउथर्न अफ्रीका" में वर्णित किया है कि मध्य अफ्रीका के मूल निवासियों द्वारा विवाह के इस रूप को आज भी बनाए रखा गया है। ज़ाम्बेसी में उनका सामना बलौंडा से हुआ, जो एक मजबूत और सुंदर नीग्रो जनजाति थी, जो कृषि कार्यों में लगी हुई थी, और जल्द ही पुर्तगालियों द्वारा उनको दी गई रिपोर्ट की पुष्टि हो गयी, जिस पर उन्होंने पहले विश्वास करने से इनकार कर दिया था, कि महिलाओं का उनके बीच एक श्रेष्ठ स्थान था। वे आदिवासी परिषद की सदस्य थीं।* ***जब एक युवा पुरुष विवाह करता है, तो उसे अपने गाँव से उस गाँव में जाना होता है जहाँ उसकी पत्नी रहती है। साथ ही उसे जीवन भर आग जलाने के लिए अपनी सास को लकड़ी उपलब्ध कराने का वचन देना होता है। बदले में, महिला को अपने पति को भोजन उपलब्ध कराना होता है। हालाँकि कभी-कभी पति और पत्नी के बीच छोटे-मोटे झगड़े होते थे, लेकिन लिविंगस्टोन ने पाया कि पुरुष महिला वर्चस्व के खिलाफ़ विद्रोह नहीं करते थे। लेकिन दूसरी ओर, उन्होंने पाया कि जब पुरुष अपनी पत्नियों का अपमान करते थे, तो उन्हें उनके पेट के जरिये कड़ी सज़ा दी जाती थी। लिविंगस्टोन ने बताया कि पुरुष खाने के लिए घर आता है, लेकिन उसे एक महिला से दूसरी महिला के पास भेजा जाता है और उसे कुछ भी नहीं दिया जाता। थका हुआ और भूखा, वह आखिरकार गाँव के सबसे घनी आबादी वाले हिस्से में एक पेड़ पर चढ़ जाता है और दु:ख भरी आवाज़ में चिल्लाता है: "सुनो, सुनो! मैंने सोचा था कि मैंने महिलाओं से शादी की है, लेकिन वे चुड़ैल हैं! मैं कुंवारा हूँ; मेरी एक भी पत्नी नहीं है! क्या यह मेरे जैसे नवाब के लिए न्यायपूर्ण और उचित है?!"***

32. बेबेल लिखते हैं कि आम तौर पर *"मातृ कानून के तहत, तुलनात्मक रूप से शांतिपूर्ण परिस्थितियाँ बनी रहती थीं। सामाजिक संबंध सरल थे और जीवन का तरीका आदिम था। विभिन्न कबीले एक-दूसरे से अलग रहते थे और एक-दूसरे के क्षेत्र का सम्मान करते थे। यदि एक*

जनजाति पर दूसरे द्वारा हमला किया जाता था, तो पुरुष रक्षा के लिए हथियार उठाते थे और ***महिलाओं द्वारा उनका बखूबी समर्थन किया जाता था****... कुल मिलाकर, आदिम दिनों में पुरुष और महिला के बीच शारीरिक और मानसिक अंतर लगभग उतना बड़ा नहीं था जितना कि वर्तमान में हैं... कोलंबस पर सांता क्रूज़ के पास एक छोटे से स्लूप में इंडियन्स की एक टुकड़ी ने हमला किया था जिसमें* ***महिलाएँ पुरुषों की तरह ही बहादुरी से लड़ी थीं।*** *इस अवधारणा की पुष्टि हैवलॉक एलिस ने भी की है: "श्री एच. एच. जॉनस्टोन के अनुसार, कांगो के एंडोम्बियों में महिलाएँ, बोझा ढोने और आम तौर पर मजदूरों के रूप में बहुत मेहनत करने के बावजूद, पूरी तरह से खुशहाल जीवन जीती हैं; वे अक्सर पुरुषों की तुलना में अधिक मजबूत और अधिक विकसित होती हैं, उनमें से कुछ, उन्होंने हमें बताया, वास्तव में शानदार काया रखती हैं... वे पुरुषों के समान भारी वजन उठाती हैं और इसे काफी अच्छे से करती हैं। उत्तरी अमेरिका में फिर से एक इंडियन सरदार ने हर्न से कहा: महिलाओं को श्रम के लिए बनाया गया है; एक महिला उतना ही भार उठा सकती है या खींच सकती है जितना दो पुरुष उठा सकते हैं। शेलॉन्ग, जिन्होंने न्यू गिनी के जर्मन संरक्षित क्षेत्र में पापुआंस का मानवशास्त्रीय दृष्टिकोण से सावधानीपूर्वक अध्ययन किया है, का मानना है कि महिलाएँ पुरुषों की तुलना में अधिक मजबूत होती हैं। मध्य ऑस्ट्रेलिया में फिर से, पुरुष कभी-कभी ईर्ष्या के कारण महिलाओं को पीटते हैं, लेकिन ऐसे अवसरों पर महिला द्वारा अकेले ही पुरुष को बुरी तरह पीटना कोई असामान्य बात नहीं है। क्यूबा में, महिलाओं ने पुरुषों के साथ मिलकर लड़ाई लड़ी और भरपूर स्वतंत्रता का आनंद लिया। भारत की कुछ जातियों, उत्तरी अमेरिका के पुएब्लोस, पैटागोनियन में महिलाएँ पुरुषों जितनी ही बड़ी हैं। इसी तरह, अफ़गानों में, जिनके साथ कुछ जनजातियों में महिलाओं को काफी हद तक शक्ति प्राप्त है। यहाँ तक कि अरबों और डूस में भी यह देखा गया है कि महिलाएँ पुरुषों जितनी ही बड़ी हैं। और रूसियों में दोनों लिंग अंग्रेज़ों या फ़्रांसीसी लोगों की तुलना में ज़्यादा समान हैं।"*

33. इसे मातृ-अधिकार कहा जाता था। सामाजिक संगठन का आदिम रूप जेन्स (बहुवचन 'जेंटेस') था और प्रत्येक कबीले में जेंटेस होते थे। एक ही माँ के वंशज एक ही जेन्स के थे। प्रत्येक जनजाति में कई जेंटेस होते थे, जिनमें वंश का निर्धारण महिला वंश से होता था, न कि पुरुष वंश से।

34. जिसका आधार तकनीकी क्रांति है जो पूंजीवाद के तहत लगातार बढ़ रही है (हालांकि अब इसमें रुकावटें, गंभीर अवरोध, यहां तक कि पूंजीवाद के अपने अंतहीन संकट के कारण पश्चगमन की स्थिति तक देखी जा सकती है) और जो समाजवाद के तहत और अधिक तीव्रता से निर्बाध आगे बढ़ेगी।

35. बेशक आधुनिक पूंजीवाद ने ऐसा किया है, लेकिन वर्तमान पूंजीवादी सामाजिक संबंधों के तहत अनुमत सीमा तक ही, जो केवल एक छोटे से तबके को इस उद्योग से लाभ पहुँचाता है। यह महिलाओं की पूरी आबादी के लिए केवल समाजवाद के द्वारा और उसके तहत ही किया जा सकता है, जो सभी को लाभ पहुँचाने के लिए सबसे बड़े पैमाने पर फैक्ट्री रसोई स्थापित करेगा, और पूंजीवादी सामाजिक संबंधों द्वारा लगाए गए अवरोधों को तोड़ देगा।

36. यह वाक्य "इससे पुरानी गोत्र-व्यवस्था में दरार पड़ गई। एकनिष्ठ परिवार एक ताकत बन गया और गोत्र के अस्तित्व के लिए एक खतरा बन गया।" यह समझने के लिए काफी महत्वपूर्ण है कि कैसे निजी संपत्ति आधारित पितृ-अधिकार और एकनिष्ठता ने एकल परिवार की शक्ति पर आधारित राजशाही के युग के साथ-साथ निरंकुश राजाओं के उदय को जन्म दिया, जिसने सामूहिक स्वामित्व और यहां तक कि जनजातियों के आदिम सामाजिक संगठन की गोत्र संरचना में सन्निहित इसकी भावना को भी पूरी तरह से नकार दिया।

37. *'महिलाएँ और साम्यवाद'* का परिचय देखें।

38. यह भी ध्यान में रखना चाहिए ताकि यहां कोई नई गलतफहमी पैदा न हो, कि ऐसा नहीं है कि मातृसत्ता के दौर में या मातृ-अधिकार के समय महिलाएं घर का काम नहीं करती थीं। फर्क उसके सामाजिक और निजी चरित्र में है। उन दिनों पुराने सामुदायिक परिवार (जिसमें कई जोड़े और उनके बच्चे होते थे) में महिलाओं द्वारा किया जाने वाला घर का काम और साधारण खेती (बागवानी) का काम उतना ही महत्वपूर्ण, सार्वजनिक और सामाजिक रूप से जरूरी था जितना कि पुरुषों द्वारा भोजन जुटाने का काम। पितृसत्तात्मक परिवार की स्थापना के साथ और खासकर एकनिष्ठ व्यक्तिगत परिवार (आधुनिक व्यक्तिगत परिवार) की स्थापना के बाद घरेलू काम का सामाजिक चरित्र जितनी तेजी से गायब हो सकता था, हो गया। अब यह

समाज के लिए चिंता का विषय नहीं रहा। महिलाओं को सामाजिक उत्पादन के क्षेत्र से बाहर कर दिए जाने और घर में दासी बना दिए जाने के बाद से यह पत्नियों का निजी और एक कमरतोड़ काम (drudgery) बन गया है।

39. आइए हम बताते हैं कि पूंजीवादी उत्पादन पद्धति में पितृसत्ता कैसे काम करती है और अपनी जीवंतता कैसे पाती है। इतिहास की भौतिकवादी अवधारणा के अनुसार, 'इतिहास में निर्णायक तत्व अंततः तात्कालिक जीवन का उत्पादन और पुनरुत्पादन है। लेकिन यह स्वयं दो प्रकार के होते हैं। एक ओर, जीविका के साधनों - भोजन, वस्त्र और आवास - और इन चीजों के लिए आवश्यक औजार का उत्पादन होता है, और दूसरी ओर, स्वयं मनुष्यों का उत्पादन, यानी प्रजातियों का प्रसार होता है।' (मार्क्स) पूंजीवाद के तहत मजदूर वर्ग और सर्वहारा वर्ग के संबंध में, यह श्रम-शक्ति के उत्पादन और पुनरुत्पादन का रूप ले लेता है। इस प्रकार संपूर्ण माल उत्पादन अंततः उस माल के लिए परिवार पर निर्भर होता है जिस पर पूरा पूंजीवादी समाज निर्भर करता है, यानी श्रम शक्ति। श्रम शक्ति का मूल्य श्रम शक्ति के संपूर्ण उत्पादन और पुनरुत्पादन के लिए आवश्यक सामाजिक श्रम की मात्रा से निर्धारित होता है। संक्षेप में, एक इकाई के रूप में पूरे परिवार का श्रम (जिसमें मौजूदा श्रम शक्ति के पुनरुत्पादन के साथ-साथ नई श्रम शक्ति, यानी नए सर्वहारा वर्ग के उत्पादन में शामिल सभी घरेलू श्रम शामिल हैं, जिनकी श्रमिकों को आराम करने, अपनी ताकत पुनःप्राप्त करने और कल के काम के लिए खुद को तैयार करने हेतु आवश्यकता होती है) एक श्रमिक की श्रम शक्ति का मूल्य निर्धारित करता है। पुरुषों का संस्थागत प्रभुत्व, यानी पितृसत्ता, जिसकी जड़ें वर्तमान पूंजीवाद के तहत एक आर्थिक इकाई के रूप में एकल परिवार की सामाजिक संरचना में हैं, एक विरोधाभासी स्थिति पैदा करती है और मजदूरी की वास्तविक प्रकृति और श्रम शक्ति के मूल्य के वास्तविक निर्धारकों को इस तरह से ढक देती है कि महिलाओं का घरेलू (आवश्यक रूप से सामाजिक) श्रम उनके पतियों के लिए की जाने वाली एक निजी सेवा प्रतीत होती है, न कि श्रम शक्ति का उत्पादन और पुनरुत्पादन। यह पूंजी की बहुत बड़ी सेवा है, क्योंकि इससे न केवल पूंजीपतियों के लिए महिलाओं का सस्ता श्रम सुनिश्चित होता है (चूंकि पत्नियों की श्रम शक्ति का वास्तविक मूल्य, जिसकी गणना करने पर वह सामान्यतः और प्रथागत रूप से उसके पति के वेतन में सम्मिलित मूल्य से कहीं अधिक होगा, का भुगतान करने की आवश्यकता नहीं रह जाती), बल्कि यह पत्नियों के गुस्से और आक्रोश से भी पूंजी की रक्षा करता है और इसे पतियों के खिलाफ मोड़ देता है। इस तरह पूंजी के हित में पति और पत्नी दोनों ही पूंजी के झांसे में आ जाते हैं। यह अनजाने में पतियों को अपनी पत्नियों के दमन और शोषण में पूंजी का सह-अपराधी बना देता है। जाहिर है, पूंजीवाद के भीतर शुरू से ही घरेलू श्रम के लिंगीकरण को लेकर विरोधाभासी प्रवृत्तियां रही हैं, जो आज के समय में और भी विरोधाभासी और दमनकारी हो गई हैं। एक तरफ पूंजीवाद सभी को - पुरुषों, महिलाओं और यहां तक कि बच्चों को भी - उत्पादन प्रक्रिया में खींच लाता है, वहीं दूसरी तरफ वह ऊपर वर्णित प्रजनन श्रम को पहले की तरह महिलाओं का निजी काम बनाए रखना चाहता है। इससे पूंजीपति वर्ग को ऐसे श्रम की कीमत न्यूनतम स्तर पर रखने या उसके एक बड़े हिस्से को बिना भुगतान के रखने में बहुत सहूलियत होती है। इस तरह हम देखते हैं कि घरेलू अवैतनिक श्रम की यह लूट ही असली वजह है, जो पूंजीवाद में पितृसत्ता को बनाए रखने की एक मुख्य प्रेरणा है।

40. ए. बेबेल लिखते हैं, *"जैसे ही समाज उत्पादन के सभी साधनों का मालिक बन जाता है, सभी सक्षम व्यक्तियों का काम करना, लिंग की परवाह किए बिना, समाजीकृत समाज का एक बुनियादी नियम बन जाता है"* जिसमें बच्चे को जन्म देने और पालने की निजी जिम्मेदारी सामाजिक जिम्मेदारी में बदल जाती है और इस तरह निजी पारिवारिक श्रम (सफाई, सिलाई, रसोई में काम आदि) सामाजिक श्रम बन जाता है। आधुनिक वैयक्तिक परिवार के टूटने का ठीक यही मतलब है। बेबेल आगे लिखते हैं, *"श्रम के बिना समाज का कोई अस्तित्व नहीं हो सकता। इसलिए यह मांग करना उचित है कि जो लोग अपनी आवश्यकताओं को पूरा करना चाहते हैं, उन्हें अपनी शारीरिक और मानसिक क्षमता के अनुसार काम भी करनी चाहिए।"* इससे महिलाओं को आर्थिक स्वतंत्रता मिलेगी, जिसके आधार पर वे पुरुषों के अधीन अपनी गुलामी की बेड़ियों को तोड़ सकेंगी। यह सच्चे प्यार की बुनियाद भी खड़ा करेगा और समाज पहली बार एक सच्चे एकनिष्ठ संबंध को देखेगा।

41. कार्ल मार्क्स, *'1844 की आर्थिक और दार्शनिक पांडुलिपियां'*

42. लेनिन, *'सोवियत सत्ता और महिलाओं की स्थिति'* (1919) □

रिपोर्ट

अंतर्राष्ट्रीय महिला दिवस जिंदाबाद!

अंतर्राष्ट्रीय महिला दिवस के अवसर पर 'विमुक्ता - स्त्री मुक्ति संगठन' और आईएफटीयू (सर्वहारा) द्वारा विभिन्न राज्यों में आयोजित परिचर्चा पर खास रिपोर्ट

पश्चिम बर्धमान, पश्चिम बंगाल; 5-7 मार्च 2025: *विमुक्ता - स्त्री मुक्ति संगठन* और *आईएफटीयू (सर्वहारा)* द्वारा अंतर्राष्ट्रीय महिला दिवस के अवसर पर पश्चिम बर्धमान जिले के विभिन्न कोलिएरी क्वार्टरों एवं ग्रामीण इलाकों में मेहनतकश महिलाओं व पुरुषों के साथ एक परिचर्चा आयोजित की गयी। परिचर्चा में महिला दिवस के इतिहास और आज के राजनीतिक परिदृश्य पर बात रखी गयी। परिचर्चा में खासकर महिलाओं को राजनीति समझने की जरूरत पर जोर दिया गया। परिचर्चा में निर्माण क्षेत्र, कोयला क्षेत्र और ईंट भट्ठे में काम करने वाली महिलाओं ने भाग लिया। उन्होंने कामकाज की बेहद मुश्किल परिस्थितियों और कार्यस्थल पर आये दिन होते दुर्व्यवहार पर अपनी बात रखी। उन्होंने बताया कैसे निर्माण क्षेत्र में उन्हें किसी प्रकार की सुरक्षा नहीं दी जाती है। हाड़तोड़ मेहनत

मजबूर होना पड़ता है। माहवारी के समय ये दिक्कत और ज्यादा बढ़ जाती है। इसके अलावा उन्होंने अन्य कई तरह की समस्याओं के बारे में बताया जो इन क्षेत्रों में काम करने वाली महिलाएं रोज झेलती हैं।

सभी महिलाओं के पति भी या तो निर्माण क्षेत्र में या कोयला क्षेत्र में कार्यरत हैं। महिलाओं ने अपने पति और बच्चों के जीवन की समस्याओं पर भी प्रकाश डाला। उन्होंने बताया कि बंगाल के ग्रामीण इलाकों में बेरोजगारी की समस्या एक विकराल रूप ले चुकी है। साथ ही बच्चों और युवाओं के लिए अच्छी शिक्षा की जगह भी सिमटती जा रही है। सरकारी स्कूल व कॉलेजों में पढ़ाई ना के बराबर होती है, होती भी है तो इतनी खराब कि उससे छात्रों को ना ज्ञान प्राप्त होता है और ना ही नौकरी मिलने में उस शिक्षा से कुछ मदद मिलती है। अधिकतर युवा कॉलेज पहुंचते-पहुंचते या उसके पहले ही शिक्षा की लचर व्यवस्था से तंग आ कर या आर्थिक बदहाली की वजह से पढ़ाई छोड़ देते हैं। इन युवाओं के लिए जीवन चलाने के रास्ते बहुत सीमित होते हैं - ऑटो चलाना, छोटी दुकाओं पर काम करना, या फिर इर्दगिर्द के इलाकों के कल-कारखानों में काम करना। लेकिन इन कल-कारखानों में भी उन्हें 12-12 घंटे काम करने के बाद भी बहुत कम मजदूरी मिलती है। ये नौकरी भी बड़ी मशक्कत के बाद मिलती है क्योंकि कंपनी वहां के स्थानीय लोगों को काम पर नहीं रखना चाहती है। और अतः इन सब का नतीजा होता है कि परिवार में दो या तीन कमाने वाले होने पर भी किसी

तरह बस पेट भरने तक ही पैसे जुट पाते हैं।

इन परिस्थितियों को सामने रखते हुए पूंजीवादी व्यवस्था में महिलाओं के दोहरे शोषण और आज के फासीवादी दौर में बढ़ते महिला उत्पीड़न पर चर्चा की गयी और इससे मुक्ति पाने के लिए संगठित होने और मजदूर-मेहनतकश स्त्री-पुरुषों की एकता कायम करने का आह्वान किया गया।

दिल्ली; 9 मार्च 2025: अंतरराष्ट्रीय महिला दिवस (8 मार्च) के अवसर पर दिल्ली के मायापुरी औद्योगिक क्षेत्र व द्वारका इलाके में 9 मार्च 2025 को *'विमुक्ता - स्त्री मुक्ति संगठन'* और *आईएफटीयू (सर्वहारा)* द्वारा परिचर्चाएं आयोजित की गईं। द्वारका में सफाई कर्मचारी, घरेलू कामगार, निर्माण क्षेत्र में हेल्पर, डॉक्यूमेंटेशन सेंटर, आदि क्षेत्रों में काम करने वाली महिलाओं ने बैठक में भाग लिया तथा मायापुरी में महिला व पुरुष फैक्ट्री मजदूर बैठक में शामिल रहे। बैठक में महिलाओं की ओर से सक्रीय भागीदारी रही जिसमें उनके द्वारा स्थानीय दिक्कतों, प्रतिदिन थकावट भरे घरेलू श्रम का उनके जीवन पर प्रभाव, बढ़ती महंगाई, गिरती मजदूरी, बच्चों के लिए महंगी होती शिक्षा, बेरोजगारी के संकट और महिलाओं के संदर्भ खराब व असुरक्षित होते माहौल पर रौशनी डाली गई। परिचर्चा में महिला दिवस का क्रांतिकारी इतिहास, महिला आंदोलनों का वैश्विक इतिहास, सोवियत रूस के गठन में महिलाओं की अद्भुत भूमिका, पूंजीवाद में महिलाओं पर दोहरा शोषण और अत्याचार, भारतीय परिप्रेक्ष्य में महिलाओं की स्थिति, फासीवादी दौर में महिलाओं पर बढ़ता उत्पीड़न, महिला मुक्ति का रास्ता जो मजदूर वर्ग द्वारा पूंजी के राज को उखाड़ फेंकने से जुड़ा है, आदि विषयों पर गंभीर चर्चा हुई। बैठक में महिलाओं ने आम सहमति जताई कि ऐसे दमनकारी दौर में मजदूर वर्ग के मुक्तिकामी संघर्ष की दिशा में महिला मजदूरों को भी आंदोलित, संगठित और संघर्षरत होने की अहम जरूरत है। □

बड़ी पूंजी (कॉरपोरेटों) के हक में आनन-फानन में किये जा रहे भूमि सर्वेक्षण पर रोक लगाओ!

भूमिहीनों, गरीबों को उजाड़ना बंद करो; भूमि पर उनका दावा बहाल करो!

(बिहार में जारी वर्तमान भूमि सर्वेक्षण पर जन अभियान, बिहार द्वारा गांधी संग्रहालय, पटना में 9 जनवरी 2025 को आयोजित कन्वेंशन में पेश प्रपत्र)

■ जन अभियान, बिहार

बिहार में चल रहे (बढ़ी हुई समय अवधि के साथ) भूमि सर्वे में अफरातफरी की स्थिति दिखती है और यह लोगों की चिन्ता का विषय बना हुआ है। ज्ञात हो कि बिहार सरकार ने 2011 में ही बिहार विशेष सर्वेक्षण एवं बंदोबस्त अधिनियम बनाया था। तब भी हम पाते हैं कि अभी तक तैयारी पूरी नहीं है। इस सर्वे में चल रही अफसरशाही, जरूरी कागज़ात के अभाव व धांधली तथा भ्रष्टाचार से ग्रामीण जनता त्रस्त है। और भूमि सर्वे में भूमिहीन होने का तो मतलब ही अलग है! एक बड़ी त्रासदी जो उनके सामने मुंह बाये खड़ी है। वे गांवों में आखिर किसी जमीन के टुकड़े पर बसे हुए तो हैं फिर भी कागजात के अभाव में उनके अस्तित्व पर ही खतरा मंडरा रहा है। पीढ़ियों से गैर-मजरूआ जमीन पर बसे लोग पट्टे के अभाव में कब उजाड़ दिये जायेंगे यह आशंका बनती है। ऐसा भी हो सकता है कि उनके घर-बार की जमीन पर किसी और प्रभावशाली रैयत के मालिकाने का हक घोषित कर दिया जाये। समाज के सबसे निचले पायदान पर रहने वाले ये मजदूर-गरीब किसान जो जातिगत ढांचे के हिसाब से ज्यादातर दलित या अति पिछड़ी जातियों से आते हैं, अपने अनुभव से समाज की इस गति को बखूबी समझते हैं। इनके दावे के हिसाब से सरकार वादे तो करती है लेकिन वे या तो जमीन पर उतरते नहीं हैं या उनको जमीन पर उतारने के लिए बहुत मशक्कत करनी पड़ती है। वाजिब व कानूनी हक लेने के लिये भी हर तरह के संघर्ष करने पड़ते हैं। राज्य संघर्ष करने वाले हकदार को या तो कानूनी मामले का वादी बना देता है या फिर अपराधी घोषित कर जेल तक में बंद कर देता है। ऐसी ही राज्य व्यवस्था आज आश्वासन दे रही है कि जिनके पास कागजात नहीं है उन्हें चिन्ता करने की जरूरत नहीं है, सरकार ने उपाय कर दिये हैं। यह आश्वासन भी भूमिहीनों के लिये शायद ही है। चल रहा भूमि सर्वेक्षण इस तबके के लिये अनिश्चितता बन कर आया है। आखिर जो सरकार भूमिहीनों को पहले 3 और फिर 5 डेसिमल बासगीत जमीन देने की बात करती रही है लेकिन पूरा नहीं कर पायी, उसकी बात का क्या भरोसा! इसीलिए मजदूरों-मेहनतकशों के लिए लड़ने वाले संगठनों का यह मंच, जन अभियान, बिहार इस बात को तल्खी से लेता है और सरकार से कहता है कि भूमि सर्वे में भूमिहीन या गैर-मजरूआ व सीलिंग से फाजिल जमीन पर बसे लोगों के मालिकाना हक को कबूल किया जाये। बात तो यहां तक चर्चा में है कि कई जगह भूदान में मिली जमीन को किसानों से वापस लेकर उसके 'मूल' मालिकों को वापस किया जा सकता है। गरीबों का इस मामले में बहुत कटु अनुभव रहा है। एक तो जैसा कि हमने बताया हक जताने के लिए संघर्ष करना पड़ता है, दूसरा, हाल के दिनों में जल, जीवन, हरियाली के नाम पर गरीबों को उजाड़ा गया है। ऐसे में सरकार पर भरोसा करना बेमानी ही लगता है। खासकर तब जब सुप्रीम कोर्ट तक ने भी अतिक्रमण हटाने के नाम पर गरीबों के उजाड़े जाने को वैध ठहराया है और पर्यावरण के नाम पर गांव की साझी सम्पदा (कॉमन्स) पर से अतिक्रमण हटाने को भी आगे बढ़ाया जा रहा है। दिल्ली के पास हरियाणा में खोरी गांव को कैसे ढाह दिया गया उसका उदाहरण हमारे सामने है। इतिहास के चक्र को घुमाने की ऐसी मुहिम चल रही है कि बेतिया एस्टेट में बसे लोगों को अतिक्रमण हटाने के नाम पर उजाड़ने की बात हो रही है, हालांकि बसे हुए लोगों को सरकार कुछ राहत देने की बात भी कर रही है। आम तौर पर इस तरह की मुहिमों में धांधली होती है या उनका क्रियान्वयन ठीक से नहीं होता। ज्ञात हो कि बेतिया एस्टेट का प्रबंधन कोर्ट ऑफ वार्ड्स, बोर्ड

ऑफ रेवेन्यू के अंतर्गत है। बिहार सरकार ने इस एस्टेट की जमीन को अपने मालिकाने में ले लेने का फैसला किया है। उच्च न्यायालय के फैसले के बाद सरकार उसमें फिर से बंदोबस्ती करने वाली है जिससे हजारों बसे हुए गरीब लोग व किसान प्रभावित होंगे। इस तरह से हम देख सकते हैं कि जमीन के मामले में राज्य अतिक्रमण हटाने के नाम पर पुनःबंदोबस्ती या उजाड़ने का काम करने में तत्परता दिखाने लगी है। यहां तक कि प्रधान मंत्री आवास योजना के तहत सरकारी अनुमोदन व अनुदान से बने घर भी छोड़े नहीं जा रहे हैं। यह भी खटकता है कि जो कोर्ट व सरकारें गरीबों के गांवों तक को उजाड़ने में सोचते तक नहीं वे अतिक्रमण करने वाले अमीरों और रियल एस्टेट बिजनेस की ओर से आंखें मूंद लेते हैं। हम पाते हैं कि पर्यावरण के तमाम नियमों को कमजोर किये जाने और उनका उल्लंघन किये जाने पर कोर्ट चुप रह जाता है परंतु वह पर्यावरण के नाम पर गरीबों द्वारा किये गये तथाकथित अतिक्रमण हटाने पर जोर देता है। भुक्तभोगी ग्रामीण गरीब इसके साक्षी हैं। बांधों के निर्माण में होने वाले विस्थापन से लेकर खनन परियोजनाओं के लिये कॉरपोरेटों द्वारा किये जा रहे अतिक्रमण का बुरा अनुभव तो हमारे पास है ही।

आखिर इतनी बड़ी मुहिम को आनन-फानन में लेने के पीछे सरकार की मंशा क्या हो सकती है? इतनी बड़ी कवायद जो पिछले 50 वर्षों से या उससे भी अधिक समय से नहीं हुई थी या हुई भी तो अधूरी रह गयी उसे क्यों फिर से हाथ में लिया गया? हम समझ सकते हैं कि जो काम कम आबादी की स्थिति में, कम बंटवारे की स्थिति में भी सफल नहीं हुआ उसे यह सरकार तब हाथ में ले रही है जब सरकारी मशीनरी को नव-उदारवादी नीतियों के चलते तनुकृत किया गया है, जिसके चलते आज अल्पकालिक अनुबंध नौकरियों की भरमार है और प्रशिक्षित लोगों की कमी है। प्रशिक्षण को भी आउटसोर्स कर दिया जाता है और यह कम दिनों का ही होता है। सर्वे में मानदेय पर रखे गये अल्पकालिक सेवा के लिए कर्मचारियों को लगाकर कहां तक बेड़ा पार हो सकता है वह सोचनीय है। उनका प्रशिक्षण भी छोटी अवधि का हो रहा है और आनन-फानन में किया जा रहा है। यदि हम व्यवस्थागत भ्रष्टाचार की बात छोड़ भी दें तो अपने इस सर्वे के लिए बने लचर ढांचे में ही अव्यवस्था और भ्रष्टाचार की गुंजाइश बहुत ज्यादा है। जो सरकार नौकरी की परीक्षायें लेने में असफल हो रही है और तमाम अकुशलता व धांधली से पीड़ित है वह इस पूरे सिलसिले में क्या बेहतर काम करेगी? ऐसे में फिर सवाल उठता है कि आखिर इसके पीछे की मंशा क्या है? वह कौन सी बात है जो मुम्बई तथा एशिया की सबसे बड़ी झुग्गी-झोपड़ी धारावी में पीढ़ियों से बसे पट्टाविहीन वाशिंदों को विस्थापित कर उस इलाके के पुनर्विकास के नाम पर बनी योजना के तार को बिहार के जमीन सर्वे से जोड़ती है? याद रहे कि धारावी झुग्गी-झोपड़ी के पुनर्विकास का काम अदानी कॉरपोरेट घराने को दिया गया है जो बेशुमार मुनाफा का स्रोत बनेगा।

जमीन का सर्वे किसी खास मकसद से ही होता रहा है। भले यह लगे कि रैयतों के अधिकारों को यह निबंधित करता है लेकिन यह बात सरकारों के असली मकसद को नहीं दर्शाती है। यह भले सर्वे का सहउत्पाद हो सकता है और किसी भी समय के उत्पादन संबंधों को मालिकाना संबंधों के रूप में मान्यता देकर उस हद तक मालिकों को या रैयतों को भरोसा दिलाता है। तो फिर राज्य की असली मंशा क्या रही है? ब्रिटिश शासन में राजस्व का बड़ा भाग लगान से आता था और इस उद्देश्य से सर्वे करवाये गये (शुरुआती दौर में हमले द्वारा जमीन का औपनिवेशिक हस्तगतकरण भी एक कारण था)। इस व्यवस्था की अहमियत हम इस बात से समझ सकते हैं कि जिला का मुख्य पदाधिकारी कलक्टर कहलाया और उसका मुख्य काम राजस्व वसूली हेतु प्रशासन सम्भालना रहता था। ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने शासन की बागडोर सम्भालते हुए बिहार सहित इस इलाके में स्थायी बंदोबस्त (Permanent Settlement) की व्यवस्था की थी। जमींदारों को जमीन पर हक दिया गया और उन्हें लगान वसूल कर कम्पनी को और बाद में ब्रिटिश राज को देना पड़ता था। यह एक निश्चित रकम हुआ करती थी। जमींदार तो यह निश्चित रकम देते थे लेकिन उनके लिए फायदेमंद तो यह था कि राज को दिये जाने वाले राजस्व से भी ज्यादा उन्हें मिले। इसके लिए वे जायदाद के रिकॉर्ड बनाने की मुहिम लेते थे ताकि लगान को अधिकतम किया जा सके। ये जमीन के रिकॉर्ड जमीन का रकबा और उसके धारक रैयत का विवरण रखते थे। ये रिकॉर्ड आज भी प्रयोग में लाये जाते हैं और इन रिकॉर्डों में मिलने वाली त्रुटियां आज भी उलझाव का कारण बनती हैं। इसके पहले कि हम इनकी त्रुटियों पर बात करें हम फिर ध्यान दिलाना चाहेंगे कि जमीन का सर्वे अधिकारों के निबंधन मात्र के लिए नहीं होता बल्कि राज्य व शासक वर्गों के हितों की सेवा करने के लिए होता है। इन हितों की बात हम आगे करेंगे।

बहरहाल हम इस बात पर आयें

कि जमींदारी रिकॉर्ड काफी त्रुटियां छोड़ गये। एक त्रुटि जो आज भी विद्यमान है और जिसकी प्रसंगवश चर्चा कर लेनी चाहिए वह है जमीन के डीड का कैथी लिपि में होना जिसे पढ़ना आसान नहीं होता। इस तरह हम देख सकते हैं कि ये रिकॉर्ड किस हद तक जमींदारी व्यवस्था की विरासत को ढो रहे हैं। जमींदारी उन्मूलन कानून के लागू होने के बाद ये रिकॉर्ड राज्य सरकार के जिम्मे आ गये और राज्य सरकारें इन्हीं में तब्दिलियां कर काम चलाने लगीं। भूमि सर्वे के विभिन्न रूप होते हैं जिनकी जमीन और उसके मालिक-बटाईदार को चिन्हित करने में अहम भूमिका होती है (cadastral survey, topographical survey, land title survey etc.)। निश्चित रूप से नियमित सर्वे का अभाव जमीन पर वास्तविक हितधारकों के लिए समस्या पैदा करता है। आखिर जमींदारी उन्मूलन के बाद जमीन का पुनर्वितरण हुआ, फिर काश्तकारी (tenancy) सुधार हुए और हदबंदी कानून बना। ये कानून बड़े पूंजीपति-जमींदार राज्य के द्वारा बनाये व क्रियान्वित किये गये थे। बेशक यह इस तरह से किया गया कि उनके वर्ग हितों पर चोट न हो। वास्तव में ऐसी त्रुटियों ने जमींदारों को नये सिरे से बंदोबस्ती कर लेने और रैयतों को बेदखल करने में मदद की। इसीलिए हमारी नज़र में इनको लागू करने के लिए यह भी जरूरी था कि जमीन का सर्वेक्षण होता जो कि नहीं हुआ और खराब रखरखाव वाले तथा त्रुटिपूर्ण रिकॉर्ड ही इस्तेमाल में रह गये। ऐसे में उलझन आते रहे हैं और जमीन विवाद का विषय बना हुआ है। अध्ययन बताते हैं कि ज्यादातर कोर्ट केस जमीन विवाद के ही होते हैं जो लम्बे समय तक लम्बित रहते हैं। ज्ञात हो कि सरकार इस बात से नहीं चिंतित है कि इस तरह रैयतों के खास तबकों की हकमारी होती है या इस सर्वेक्षण से हक मिलने पर मामला सुलझेगा। ऐसा अभी तक नहीं हुआ है तो सरकार की मंशा में ऐसी सदिच्छा खोजना गलत होगा हालांकि सरकार के पैरोकार लेखक इस तरह की बातें करते हैं।

खराब रखरखाव, कई अलग-अलग विभागों में जमीन रिकॉर्डों का बिखरा होना और आपस में तालमेल न होना, जमीन के मालिकाने हक का अद्यतनीकरण (updating) न होना सरकार के लिए चिंता के विषय इसलिए बने कि इनके चलते जमीन बाजार (land market) अकुशल (inefficient) और बोझिल बना हुआ है। पूंजी निवेश के लिए इस बाजार के विकास और परिपक्वता का होना आवश्यक समझा जाता है। आज रियल एस्टेट का क्षेत्र अग्रणी क्षेत्रों में से है और सरकार इसे तमाम तरीके से बड़ी पूंजी के हक में बढ़ावा देना चाहती है। सरकार चाहती है बाजार में लेनदेन (transactions) त्वरित हों और इस तरह यह बाजार 'गहरा' हो। सहज ही समझा जा सकता है कि सरकार की यह मंशा रियल एस्टेट बिज़नेस के फूलने-फलने से जुड़ा हुआ है। यह उन बदलावों को भी दिखाता है जो हमारे सामाजिक-आर्थिक व्यवस्था में आये हैं और इन बदलावों ने जमीन को एक मूल्यवान परिसम्पत्ति (asset) के रूप में ढाल दिया है। पुराने ढर्रे की गृहस्थी करने की प्रवृत्ति लगातार कमजोर होती जा रही है। यह किसान परिवारों की अगली पीढ़ियों की कृषि से निकलने की (मजबूर) अभिलाषा में अभिव्यक्ति पाती है। अज़ीम प्रेमजी विश्वविद्यालय के अध्ययन केन्द्र सीएसई के सर्वेक्षण (2012) के अनुसार 67.6 प्रतिशत किसान परिवारों के युवा खेती से निकलना चाहते हैं। इसी तरह हम देखते हैं जिन गांवों तक शहरों का विस्तार होने वाला होता है या हाईवे-एक्सप्रेसवे की जद में जिन गांवों की जमीन आती है वहां के किसान हर्षान्वित होते हैं कि उनकी जमीन के दाम कई गुना बढ़ जानेवाले हैं। इस बार के सर्वेक्षण और 1947 के बाद हुए सर्वेक्षण से उभरी चिन्तायें भी अलग-अलग हैं। बिहार के कुछ जिलों में हुए 1952 से चले सर्वेक्षण ने भाई-भाई में बंटवारे को त्वरित किया और इस तरह निजी हितों को गहरा किया। फणीश्वरनाथ रेणु के उपन्यास 'परती परिकथा' में हमें पूर्णिया जिले में चल रहे इस सर्वे का चित्रण मिलता है। आज का सर्वेक्षण एकल परिवारों (nuclear families) के बन जाने की स्थिति में हो रहा है, जहां बंटवारा तो हो गया है लेकिन वह निबंधित नहीं है। इसीलिए वंशावली से लेकर बंटवारे को औपचारिक करने का झंझट रह गया है और ऐसे परिवारों में कागजात की खोज हो रही है। आज सरकारी महकमे की करतूतों से लोग ज्यादा परेशान हैं और दफ्तरों का चक्कर काटने के दुष्चक्र में फंस जाते हैं। आज के सर्वेक्षण से लोग आपसी कलह से ज्यादा सरकारी मशीनरी के कारनामों से परेशान हैं। इस तरह हो रहे सर्वेक्षण को हमें सामाजिक-आर्थिक बदलावों के परिप्रेक्ष्य में देखना पड़ेगा। बिहार सरकार की वेबसाईट भी कहती है कि "भूमि रिकॉर्ड समकालीन सामाजिक-आर्थिक आवश्यकताओं के लिए अत्यंत महत्वपूर्ण हैं, और सामाजिक संरचना में हो रहे परिवर्तनों को दर्ज करने के लिए इनका संशोधन और अद्यतनीकरण आवश्यक हो जाता है"।

इन बदलावों को भी ध्यान में रखते हुए सरकार ने सर्वे के काम को हाथ में लिया है। जैसा कि हमने कहा 'लैण्ड

मार्केट' बहुत महत्वपूर्ण होता जा रहा है। ऐसे में सर्वे पर जोर है ताकि 'त्रुटियां' हटायी जा सकें और इस बाजार में सहूलियत से काम किया जा सके। हम त्रुटियों की बात कर रहे हैं तो हमें यह देखना पड़ेगा कि यहां जिस तरह से मालिकाना हक के इजहार का चलन है वह लेनदेन संबंधी (transactional) और इस तरह अनुमानित (presumptive) किस्म का भी है। खरीदार और विक्रेता के बीच सम्पत्ति के हस्तांतरण में बिक्री की डीड ही मान्य होती है जिसकी रजिस्ट्री करनी पड़ती है। यह रजिस्ट्री उस लेनदेन की होती है। यह जमीन के टाइटल डीड की रजिस्ट्री नहीं होती। अतः इसके आधार पर मालिकाना की गारंटी नहीं हो सकती है और इसे कभी भी चुनौती दी जा सकती है। आज के दिन में भी यह रजिस्ट्री पंजीयन अधिनियम, 1908 के तहत होता है। इसके तहत संपत्ति की बिक्री को पंजीकृत किया जाता है। इसमें केवल खरीदार और विक्रेता की पहचान की जांच होती है। पहचान को सत्यापित करने वाले विभिन्न दस्तावेजों व खास व्यक्ति (जिसे बोलचाल में पहचान कहा जाता है) के द्वारा ऐसा किया जाता है। बेची जा रही भूमि के वास्तविक अवस्थान और उसकी विशेषताओं की जांच निबंधन करने वाला अधिकारी भौतिक रूप से बहुधा नहीं भी करता है। यहां इस बात को भी कह देना जरूरी है कि आजकल निबंधन कार्यालय के कर्मचारी द्वारा जमीन और उसके विक्रेता/क्रेता के फोटो लेने का काम भी होने लगा है। पर इस कार्यालय का काम भी किस बेतरतीब ढंग से होता है उसे कहने की जरूरत नहीं है। इस पूरी प्रक्रिया में वास्तविक मिल्कियत की जांच नहीं हो पाती है। और इसकी वैधता की जांच करने की जिम्मेदारी खरीदने वाले पर है। सरकार इसका सत्यापन नहीं करती। ऐसे में सरकारी रिकॉर्ड और भूमि स्वामित्व की वास्तविक स्थिति के बीच अंतर हो सकता है। भूमि रिकॉर्डों में त्रुटियां इस स्थिति में उभर कर आ सकती हैं और इस पूरे लेनदेन को चुनौती दी जा सकती है। ऐसे में उस भूमि पर हो रहे काम या चल रही परियोजना बाधित हो सकती है। सरकार इसी से चिन्तित है।

फिर 1908 के इस कानून के तहत हर लेनदेन में संपत्ति का पंजीकरण आवश्यक नहीं है। उत्तराधिकार विभाजन के मामले में ऐसा ही है, जिससे मिल्कियत की वैधता संदिग्ध हो सकती है और यह पट्टीदारों के बीच मुकदमों का कारण बनता है। सरकार द्वारा भूमि अधिग्रहण या एक साल से कम के लिए पट्टे पर दी गई जमीन का निबंधन होना भी जरूरी नहीं है।

यह एक चिन्ता का विषय बना हुआ है। इस सिलसिले में कम्प्यूटरीकरण पर ध्यान दिया गया और इसे आगे बढ़ाया गया जिसका सूत्रपात 1988-89 में ही हो गया था। 2008 में इसे National Land Records Modernization Programme (NLRMP) नामक केन्द्र पोषित स्कीम में बदलकर त्वरित करने की प्रक्रिया चली। इस स्कीम को 2016 में मोदी सरकार ने नाम बदलकर Digital India Land Records Modernization Programme (DILRMP) रखा। अब यह केन्द्र सरकार के अंतर्गत है। बिहार में बना ऊपर वर्णित 2011 का सर्वे कानून अपनी प्रस्तावना (vii) में इस बात को रखता है कि "चूंकि, भारत सरकार द्वारा कुछ वर्ष पूर्व तथा प्रायोजित भू-अभिलेखों के कम्प्यूटरीकरण में समरूप दृष्टिकोण का अनुपालन नहीं किया गया" (इसलिए सर्वे करना जरूरी है)। हमें इस प्रक्रिया में निहित केन्द्रीकरण की प्रवृत्ति पर भी ध्यान देना चाहिए। आखिर जमीन राज्यों के अधिकार क्षेत्र की चीज़ है। जिस तरह रद्द तीन कृषि कानूनों द्वारा इसे उच्छेदित करने का प्रयास हुआ था वह हमारी नजर में है।

हम पाते हैं कि पूरी प्रक्रिया में और सर्वे के हेतु में कीवर्ड (keyword) है 'निर्णयात्मक स्वामित्व' (conclusive titling)। जैसा कि हमने ऊपर कहा है कि यह लैण्ड मार्केट को 'उन्मुक्त' ढंग से काम करने देने के लिए है। कम्प्यूटरीकृत भूमि रिकॉर्डों से आगे इस स्तर पर पहुंचने के लिए सर्वे का महत्व है। यह कहीं से भी भूमिधारकों या किसानों की सहूलियत से प्रेरित नहीं है, हालांकि सहउत्पाद के रूप में यह भूमि के मसले को सुगम करने का काम जरूर कर सकता है। यह बात कि लैण्ड मार्केट से यह प्रक्रिया प्रेरित है और यह व्यवसाय के लिए (खासकर कॉरपोरेट घरानों के लिए) जरूरी है, इसका इस बात से भी पता चलता है कि व्यवसाय करने की आसानी (Ease of doing business) पर बनी संसदीय कमिटी का यह कहना था कि भूमि रिकॉर्डों में गड़बड़ियां लैण्ड मार्केट के ठीक से काम करने में बाधा हैं और इससे विभिन्न परियोजनाओं के क्रियान्वयन में बाधा पड़ती है। कमिटी ने अनुशंसा की कि जमीन संबंधी सभी रिकॉर्डों को एक जगह सम्मिलित कर एक डेटाबेस बनाया जाये। इसके साथ एक 'सम्पत्ति पहचान कोड' का निर्माण हो जिससे किसी भी खास सम्पत्ति के बारे में आसानी से पता लगाया जा सके। यह सब सम्पत्ति के लेनदेन को सुगम और सुनिश्चित बनाने के लिए है ताकि व्यवसाय सम्पत्ति संबंधी बेजा विवादों में न फंसे। हम समझ सकते हैं कि भूमि रिकॉर्डों को कम्प्युटरीकृत कर अगले कदम के रूप में 'निर्णयात्मक स्वामित्व'

बिज़नेस को सुगम बनाने के लिए जरूरी है। हम पाते हैं कि यह सर्वे किसी भी तरह से किसी प्रगतिशील भूमि सुधार का आगाज नहीं करता। यदि रैडिकल व प्रगतिशील भूमि सुधार के लक्ष्य से इस सर्वे का काम लिया गया होता तो यह सर्वथा स्वागतयोग्य रहता। हां, यह उल्टे कमजोर लोगों को सरकारी (गैर-मजरूआ) जमीन से हटाकर जमीन के एक बड़े रकबे को सरकार को और कालक्रम में कॉरपोरेट घरानों को हस्तांतरित कर सकता है जिसे आगे की अधिरचना परियोजनाओं या अन्य व्यवसायिक काम के लिए काम में लाया जा सकता है। सरकार के लैण्ड पूलिंग और लैण्ड बैंक बनाने की योजना के अंतर्गत ही यह आयेगा। इस पूरी कवायद में गरीब भूमिहीन के कमजोर पलड़े को हम इस विडम्बनापूर्ण स्थिति से देख सकते हैं कि हमें जो विरासत में भूमि रिकॉर्ड मिले हैं वे इस बात को बताते हैं कि जमीन किसके कब्जे में है न कि कौन मालिक है। कब्जा महत्वपूर्ण बात है। इस कब्जे के निर्धारण में उस जमीन के लेनदेन के रिकॉर्ड भी काम आते हैं। पर गरीब लोग जिस जमीन पर काबिज हैं वह मानो मायने ही नहीं रखता। हाशिये पर ठेले हुए इन लोगों पर दखल-कब्जा (possession) का यह फॉर्मूला लागू नहीं होता! सर्वे के वर्ग अंतर्य को समझना चाहिए।

हमने देखा कि भूमि रिकॉर्ड को डिजिटलाइज़ करने का अंतिम मकसद 'निर्णयात्मक स्वामित्व' की व्यवस्था को स्थापित करना है। बिहार का अधिनियम 'विकास' के नाम पर इसे प्रस्तावना (x) में जगह देता है - "चूंकि, भूमि विकासात्मक गतिविधियों का मूलाधार है; वर्तमान स्वामित्व, दखल एवं भूमि के वर्गीकरण को अंतिम रूप से सुनिश्चित किया जाना आवश्यक है ताकि भू-अर्जन का प्रचालन निराधार दावों, कपट एवं जालसाजी से दूषित न हो और साथ ही कृषि ऋण, अनुदान, सहायता तथा बीमा से संबंधित गतिविधियां सुगमतापूर्वक चलाई जा सकें।" यह देशी-विदेशी कॉरपोरेट घरानों के हितों से प्रेरित व्यवसाय करने की सुगमता को बढ़ाने के लिए किया जायेगा। वित्त पूंजी भी इस ओर बहुत ध्यान दे रही है। तभी तो वित्तीय सुधार पर 2007 में रघुराम राजन की अध्यक्षता में बनी कमिटी (Financial Sector Reforms Committee) ने भी 'निर्णयात्मक स्वामित्व' की बात की है। यह स्वामित्व सरकार द्वारा गारंटीकृत होगा। इससे खरीद-बिक्री की सहूलियत होगी जिसे भविष्य में कोर्ट में चुनौती दिये जाने की गुजांइश नहीं रहेगी। इस कमिटी ने यह भी सिफारिश की कि भूमि संबंधी रिकॉर्ड ऐसे रखा जाये कि कोई भी, कभी भी उसे देख सके। यह जमीन को रेहन रखने से लेकर ऋण लेने की प्रक्रिया को सुलभ बनायेगा। भूमि उत्पादन के बीमा को भी यह मदद करेगा। इस तरह से पूरा वित्तीय क्षेत्र, बीमा और रियल एस्टेट (FIRE) का व्यवसाय लाभान्वित होगा। साम्राज्यवादी विश्व व्यवस्था में इसी क्षेत्र का शिकंजा है।

इसे आगे बढ़ाने के लिए साम्राज्यवादी वित्तीय महाप्रभुओं ने 'वित्तीय समावेशन' को अंतर्राष्ट्रीय पैमाने पर लागू करने की मुहिम छेड़ रखी है। इसके लिए इन्होंने 'एलायंस फॉर फाइनैनशियल इनक्ल्यूज़न' नामक संस्था भी बना रखी है जिसका भारतीय रिजर्व बैंक भी मेम्बर है। वित्तीय समावेशन वित्त पूंजी को लाभांवित करता है। रिज़र्व बैंक के द्वारा गठित वित्तीय समावेशन कमिटियों ने भी भूमि रिकॉर्डों के कम्प्यूटरीकरण और फिर 'निर्णयात्मक स्वामित्व' की बात की है ताकि संस्थागत ऋण छोटे से छोटे भूमि मालिकों तक पहुंच पाये। इससे उन्हें भी जाल में लेने की मंशा है। भारत जैसे देश में जहां छोटे मालिकों की संस्थागत ऋण तक पहुंच अपेक्षाकृत कमजोर रही है और वे साहूकार पर निर्भर रहे हैं यह बात अच्छी लग सकती है। लेकिन हाल के दशकों में संस्थागत ऋणों में वृद्धि भी हुई है। दूसरी ओर यह बात नहीं भूल जानी चाहिए कि जहां 'निर्णयात्मक स्वामित्व' ऋण और मॉर्टगेज को आसान बनायेगा वहीं यह इस स्वामित्व के हस्तांतरण और भूमि की नीलामी को भी सुगम बनायेगा। इसीलिए ईज ऑफ डूइंग बिजनेस के लिए संसदीय कमिटी ने लैण्ड मॉर्टगेज के डेटाबेस पर जोर दिया है ताकि आसानी से पूंजी निवेशक स्थिति को समझ पाये। लैण्ड मार्केट का औपचारिकीकरण ऐसे मॉर्टगेज को प्रोत्साहित करेगा लेकिन खेती की जो स्थिति है उसमें सम्पत्तिहरण को भी त्वरित करेगा। विकसित पूंजीवादी देशों का ऐतिहासिक अनुभव हमें यही बताता है। आज भी अमेरिका में खेती करने वाले छोटे मालिक (कॉरपोरेट के बनिस्पत छोटे) बैंकों से त्रस्त रहते हैं और उनको इस प्रक्रिया में अपनी जमीन से हाथ धोना पड़ता है। जो साहूकार आसानी से आज नहीं कर सकते उसे बहुत ही सरल तरीके से भूमि बाजार के औपचारिकीकरण से किया जा सकता है। यह अधिरचना के क्षेत्र में भूमि अधिग्रहण को सुगम व आसान बनायेगा। आगे की चुनौतियों का भय नहीं रहेगा और साथ ही किससे जमीन लेना है और उस जमीन की अवस्थिति कहां है यह स्पष्ट रहने से मामला आसान बनेगा। इस तरह से बड़ी पूंजी विशेषकर वित्त पूंजी इस पर जोर दे रही है और बिहार का सर्वे भी इसी प्रक्रिया का अंग है। यदि वापस लिये गये तीन कृषि कानून बड़ी पूंजी के पक्ष में

कृषि में सम्पत्तिहरण को त्वरित करते और इस क्षेत्र को बड़े पैमाने के पूंजी निवेश के लिए खोल देते तो ऊपर वर्णित मुहिम भी इस प्रक्रिया को बढ़ाने का काम करेगा चाहे मॉर्टगेज के माध्यम से हो या लैण्ड लीज़िग या फिर भू-सम्पत्ति की बिक्री के माध्यम से।

जहां दूसरी सरकारें भी इस प्रक्रिया को धीरे-धीरे आगे बढ़ा रही थीं कॉरपोरेट पूंजी की चहेती मोदी सरकार इसे त्वरित ढंग से करना चाहती है। तभी तो केन्द्र सरकार इस डिजीटलाइज़ेशन स्कीम के लिये पूरा वित्त वहन कर रही है। याद रहे कि सत्ता में आते ही भाजपा सरकार ने जमीन अधिग्रहण अधिनियम को संशोधित कर बड़ी पूंजी द्वारा जमीन के हस्तगतकरण को सुगम बनाने हेतु भूमिधारकों के हितों को कमजोर करते हुए दो-दो बार अध्यादेश लाये लेकिन संसद में संख्या के अभाव में यह कानून न बन पाया। सरकार तत्पर है कि लैण्ड मार्केट औपचारिक बने और रियल एस्टेट सेक्टर में निवेश बढ़े और यह अड़चनों से मुक्त हो। जो सरकार खनन के लिए और दूसरे ऐसे ही कामों के लिए आबादी का जबरन विस्थापन करती आ रही है वह राजनीतिक रूप से सहूलियत के लिए बड़ी आबादी का बाजारीकृत उपायों द्वारा सम्पत्तिहरण करना चाहती है। वैसे तो राज्य के पास "doctrine of eminent domain" है जिसके तहत "सार्वजनिक उपयोग" के नाम पर वह जमीन अधिग्रहण कर सकता है। यह संविधान में भी जगह पाता है। लेकिन राजनीतिक रूप से हमेशा यह वांछनीय नहीं होता और ऐसे कदम कड़े प्रतिरोध का मसला बन सकते हैं। वैसे तो यह सरकार लगातार जमीन पर लोगों के हक को कमजोर करने की लिए तत्पर रहती है। फॉरेस्ट राइट एक्ट को भी कमजोर करने की मंशा रखनेवाली सरकार यदि अधिकारों को सुस्पष्ट करने के नाम पर सर्वे करवा रही है तो हमें इस झांसे में नहीं पड़ना चाहिए। बिहार में भू-सम्पत्ति की मैपिंग (चौहद्दी, इस्तेमाल, स्वामित्व) को भूमि पर न करके 'हाइब्रिड' तरीके से किया जा रहा है जिसे हवाई मैपिंग का कहीं-कहीं जमीनी हकीकत से मिलान कर अंजाम दिया जाता है। जमीन पर इसका न होना इसके प्रमाणिकता पर सवाल खड़ा करता है। लेकिन काम आनन-फानन में करना है क्योंकि सरकार पर दबाव है कि यह काम सम्पन्न हो ताकि लैण्ड मार्केट स्वच्छंद रूप से काम कर पाये। क्या ऐसे में दावा किया जा सकता है कि सर्वे रैयतों की सहूलियत के लिए हो रहा है?

आज बड़ी पूंजी लगातार तमाम प्राकृतिक संसाधनों को हथिया लेने के लिए दांव चल रही है और लोगों का जीवन दूभर कर रही है। वह चाहे खनन के लिये जंगलों का विनाश हो, स्मार्ट सिटी व झुग्गी झोपड़ी के इलाकों के विकास के नाम पर उन पर कब्जा हो, बंदरगाहों के लिए समुद्री तटों की घेराबंदी हो या फिर इस तरह का सर्वे हो। हर ऐसी परियोजना के साथ जुड़ा हुआ है लोगों का विस्थापन चाहे जंगली इलाकों में रहने वाले प्रभावित आदिवासी हों, झुग्गी-झोपड़ी में रहने वाले कामगार हों, समुद्र तट पर रहने वाले मछुआरे हों या फिर ग्रामीण गरीब हों। सब में मुख्यतः लाभांवित होने वाला वर्ग बड़ा पूंजीपति वर्ग ही है। जैसा कि हमने ऊपर बताया है इस सर्वे से तो वित्त पूंजी या साम्राज्यवादियों के हित भी जुड़े हुये हैं। **ऐसे में जन अभियान, बिहार जनता से आह्वान करता है कि वह शोषक बड़ी पूंजी के इस वर्ग मंशा को नाकाम करने हेतु संघर्ष को आगे बढ़ाये। प्रगतिशील व रैडिकल लक्ष्यों वाले भूमि सुधार कार्यक्रम पर आधारित लैंड सर्वे के लिए संघर्ष तेज करे। जन अभियान, बिहार सर्वे पर उठे सवालों के मद्देनजर इस पर तत्काल रोक लगाने की मांग करता है। इसके अलावा हम मांग करते हैं कि --**

1. गरीब परिवार जिस भूमि पर बसे हुए हैं, उसका उन्हें पर्चा दो।

2. ग्रामीण गरीबों की बस्तियों को अतिक्रमण हटाने या पर्यावरण के नाम पर उजाड़ना बंद करो।

3 . सरकार भूमिहीनों को 5 डेसिमल बासगीत जमीन देने का वादा पूरा करो।

4. जो भूमि रिकॉर्ड कैथी लिपि में हैं सरकार उन्हें हिन्दी में उपलब्ध कराये।

5. जमाबंदी और दूसरे रिकॉर्ड को सरकार अद्यतन करे।

6. सरकार वन्य अधिकार कानून, 2006 के साथ छेड़छाड़ नहीं करो और बसे हुए लोगों का हक निबंधित करो।

7. जिनके पास जमीन वितरण के तहत मिले हुए पर्चे हैं परंतु जो जमीन पर काबिज नहीं हैं उनका हक बहाल करो।

8. सरकार जल, जीवन, हरियाली के नाम पर गरीब बाशिंदों को उजाड़ना बंद करे।

9. हदबंदी से फाजिल जमीन की भूमिहीनों के बीच बंदोबस्ती करो।

10. भूदान के अंतर्गत प्राप्त सभी भूमि का पूर्ण विवरण सार्वजनिक करो और सरकार उस पर नियंत्रण स्थापित कर उसे भूमिहीनों में बांटे।

1 1 . बंद्योपाध्याय भूमि सुधार आयोग की रिपोर्ट सार्वजनिक करो। □

पर्चा

भारत के मजदूर-मेहनतकश वर्ग से अपील

मारूति सुजुकी अस्थाई मजदूरों के शांतिपूर्ण व कोर्ट से आदेश प्राप्त प्रदर्शन पर पुलिस दमन, तथा त्रिपक्षीय वार्ता के लिए जुटे मजदूरों की गिरफ्तारी के खिलाफ कड़ा प्रतिवाद दर्ज करें!

आज के दौर के शासन (फासीवाद) के घोर मजदूर-विरोधी चरित्र को पहचानकर और इसके खिलाफ अभियान चलाकर ही मजदूर वर्ग अपने अधिकारों की रक्षा कर सकेगा!

साथियो!

संक्षेप में घटनाक्रम ये है : विगत 30 जनवरी को मारुति सुजुकी कंपनी में काम कर चुके और कर रहे हज़ारों अस्थाई मजदूर देश के विभिन्न हिस्सों से हरियाणा के आईएमटी मानेसर औद्योगिक इलाके में स्थाई रोज़गार, समान वेतन, वेतन वृद्धि की जायज़ मागों को लेकर एक रैली और सभा करने पहुंचने वाले थे। इसका आह्वान बीते 10 जनवरी को गुड़गांव में इन अस्थाई मजदूरों की हुई बड़ी सभा में गठित 'मारुति सुजुकी अस्थाई मजदूर संघ' द्वारा किया गया था। परंतु 30 जनवरी के एक दिन पहले से ही मानेसर तहसील पर "मानेसर चलो" कार्यक्रम के लिए यहां-वहां इकट्ठा हो रहे मजदूरों को पुलिस ने जबरन उठाना शुरू कर दिया और उनके टेंट, बैनर, भोजन-बर्तन और अन्य सभी सामानों को तोड़ दिया और फैंक दिया। यह तब हुआ जब मजदूरों को उसी दिन गुड़गांव सिविल कोर्ट से आदेश मिल चुका था कि वे कल मारुति फैक्ट्री से 500 मीटर की दूरी पर शांतिपूर्ण प्रदर्शन और सभा कर सकते हैं। यानी, पुलिस ने कंपनी प्रबंधन के इशारे पर तथा उससे मिलीभगत कर कोर्ट के आदेश को निरस्त कर दिया और मानेसर तहसील के पूरे इलाके में धारा 144 (163 BNSS) लागू कर दी। इसके बावजूद बिना पीछे हटे जब अगले दिन भिन्न-भिन्न राज्यों से आए मजदूर मानेसर आईएमटी चौक पर शांतिपूर्ण सभा करने के लिए इकट्ठा होने लगे, तो पुलिस ने मारपीट और धक्कामुक्की करते हुए सैकड़ों मजदूरों को बसों में भर दिया। 76 मजदूरों व मजदूर कार्यकर्ताओं को मानेसर पुलिस लाइन ले जाकर वहीं रोके रखा, और बाकियों को पुलिस ने 40-50 किलोमीटर दूर अलग-अलग जगहों पर ले जाकर छोड़ दिया ताकि प्रदर्शन व सभा न हो सके। कई मजदूरों को जानवरों की तरह लाठियों से पीटते हुए खदेड़ा गया। मानेसर पुलिस लाइन में बंद 76 लोगों को पुलिस ने काफी दबाव के बाद रात 10 बजे छोड़ा, जिसके बाद उन्हें गुड़गांव श्रम विभाग कार्यालय के सामने ठंड में खुले मैदान में सोना पड़ा, जहां अगले दिन यानी 31 जनवरी को श्रम विभाग, मजदूर संघ, व कंपनी प्रबंधन की त्रिपक्षीय वार्ता की तारीख तय थी। लेकिन फिर से पुलिसिया दमन शुरू हो गया। 31 जनवरी की सुबह जब मजदूर अपने मांगपत्रक पर श्रम विभाग द्वारा बुलाई गई त्रिपक्षीय वार्ता के लिए आने लगे, तो पुलिस ने फिर से शांतिपूर्ण तरीके से खड़े मजदूरों को उठाना, उन्हें बसों में भरना और खदेड़ना शुरू कर दिया गया। वहां से हट कर जब वे गुड़गांव के कमला नेहरू पार्क में एकत्र हुए तो वहां भी पुलिस ने यही कार्रवाई की। बसों में भर कर सैकड़ों मजदूरों को मानेसर पुलिस लाइन और राजेंद्र पार्क थाना ले जाकर रखा गया। त्रिपक्षीय बैठक में शामिल होने वाले नामित सभी अगुआ मजदूरों (एक को छोड़ कर) को भी हिरासत में ले लिया गया। इतना ही नहीं, मजदूरों के संघर्ष को कवर करने आए मीडिया, जैसे कि द वायर, के पत्रकारों पर भी पुलिस ने हमला किया। उनके कैमरे व मोबाइल छीन लिए और दो पत्रकारों को पुलिस वैन में करीब घंटे भर के लिए डिटेन कर लिया गया।

14 फरवरी को 'मासा' की पुकार पर प्रतिवाद सभा में शामिल हों!
स्थान - बुद्ध स्मृति पार्क, पटना जंक्शन
समय - 12 बजे दिन से

मजदूरों की मांगें ये हैं : गुड़गांव-मानेसर में मारुति सुजुकी के तीन प्लांट में स्थायी स्वरूप के काम पर लगभग 30 हज़ार अस्थायी मजदूर काम करते हैं जो कुल मजदूरों के 83% हैं। उत्पादन का काम मुख्यत: इन्हीं पर निर्भर है। लेकिन उन्हें "समान काम के लिए समान वेतन" तथा अन्य अधिकारों से वंचित करने के लिए तथा आसानी से जब चाहें निकाल बाहर करने के लिए उन्हें अस्थाई मजदूरों की अलग-अलग कैटेगरी में बांट कर रखा गया है। स्थायी मजदूरों का औसत वेतन 1 लाख रूपये प्रति माह है, वहीं अस्थाई मजदूरों को मात्र 15,000 से 30,000 रूपये मिलते हैं। किसी की जॉब स्थाई नहीं है। किसी को 7 महीने के बाद तो किसी को 2-3 साल काम करवाने के बाद हटा दिया जाता है। वे जो हुनर प्राप्त करते हैं उसे मान्यता भी नहीं दिया जाता है। इससे उनको और कहीं सम्मानजनक काम भी नहीं मिलता है। 2013 से अब तक ऐसे हटाये गए युवा मजदूरों की संख्या 10 से 15 लाख के करीब है जिनकी जिंदगी बर्बाद हो चुकी है। इस सम्बंध में

मारुति और तमाम अन्य कंपनियां न तो किसी तरह के श्रम कानून को और न ही सुप्रीम कोर्ट के आदेश को ही मानती हैं। मजदूरों की मांग है कि उन्हें खरखोदा सहित मारुति के हर प्लांट में स्थायी रोजगार, समान काम का समान वेतन दिया जाये, आदि।

शासन का रवैया क्या बताता है? शासन का रवैया बताता है कि वह कंपनियों और मालिकों की गैर-कानूनी मनमानी के साथ है और इसके लिए वह मजदूरों को बेआवाज बना देने की सीमा तक दमन करने के लिए जा सकता है तथा मजदूरों के बीच पुलिस बल का आतंक फैला सकता है। हम यह भी देख सकते हैं कि यह रवैया बढ़ता ही जा रहा है। धीरे-धीरे मजदूरों के समक्ष यह एक बड़ा राजनीतिक प्रश्न बनता जा रहा है कि क्या इस तरह की तानाशाही को उखाड़ फैके बिना मजदूर वर्ग की तात्कालिक मांगों के लिए जनवादी संघर्ष का मैदान बचा रह सकता है? ये प्रदर्शन-सभा मारूति सुजुकी में हड़ताल कर नहीं हो रहा था जिससे कि पूंजी को चोट पहुंचती। ये मजदूर वे हैं जिन्हें मारूति-सुजुकी पहले ही निकाल चुका है और जो सरकार, प्रबंधन और समाज को यह बताना चाह रहे थे कि कंपनियों के रवैये से लाखों मजदूरों का जीवन किस तरह बर्बाद हो रहा है। जबकि उनके श्रम की लूट से ही कंपनी की पूंजी का पहाड़ खड़ा हुआ है। तो साफ है कि एक तरफ मजदूर वर्ग पर चोट की जा रही है और दूसरी तरफ उन्हें अपना दुख-दर्द बताने और अपनी बात कहने से भी रोका जा रहा है। वह भी कानूनों का उल्लंघन करके, कोर्ट के आदेश के खिलाफ जाकर। मजदूरों को यह नहीं भूलना चाहिए कि ये दमन वही शासन कर रहा है जो हिंदू-राष्ट्र के नारे से मजदूरों को धार्मिक नफरत करना सिखा रही है और मजदूरों को अपने जीवन के दुखों से दिग्भ्रमित करने में लगी है।

यह स्थिति केवल औद्योगिक क्षेत्रों में ही नहीं, ग्रामीण क्षेत्रों में भी उतनी ही तीव्रता से लागू है और लागू होने वाली है। भूमि सर्वे में यह साफ दिखता है कि सरकारी-भूदान और गैमजरुआ जमीन पर दशकों से बने गरीबों के वास को अवैध और गैरकानूनी घोषित करने और अंततः उजाड़ने व देहातों से खदेड़ने की कोशिश हो रही है। वहीं गरीब जनता और उसकी गरीबी का साम्प्रदायिकरण किया जा रहा। कहा जा रहा है कि बनाये जा रहे 'हिंदू-राष्ट्र' में योगदान करें और इसमें गर्व महसूस करें। इसके लिए उन्हें हिंदू-मुस्लिम की नफरती राजनीति का हिस्सा बनाया जा रहा है। जबकि उनके जीवन की परिस्थितियां उन्हें जुल्म, लूट और गैरबराबरी के खिलाफ आवाज उठाने को बाध्य कर रही है। और जब वे आवाज उठाएंगे तब इनके साथ यहां गांवों में भी ऐसा ही होगा। बल्कि ऐसा दमन हर वक्त चलाया गया है और आगे भी चलाया जाएगा। इसलिए भी जरूरी है कि जहां भी जुल्म तथा हमारे और हमारे वर्ग भाइयों के अधिकारों पर हमला हो, आवाज उठाया जाए। न हमारे पास रोजगार है, न स्कूल और न ही अस्पताल। ऊपर से बढ़ती महंगाई की मार है जिससे गरीब कर्ज के बोझ तले दबते जा रहे हैं। भूमिहीन और गरीब किसान जनता अपनी श्रम शक्ति को बेचने के लिए मारुती जैसी औद्योगिक कंपनियों में ही जायेंगे। लेकिन वहां का यही नजारा है जिसकी हम चर्चा कर रहे।

ऐसे में मजदूरों का आज का कार्यभार क्या है? यह कोई रॉकेट विज्ञान नहीं है कि मजदूर समझ ही नहीं सकते हैं। मजदूर यह समझते हैं कि जब मजदूरों की तात्कालिक-आर्थिक मांगो के रास्ते में अगर एक खास तरह की सांप्रदायिक-फासीवादी राजनीति के आधार पर खड़ा आतंकी शासन मजदूरों को बेआवाज बनाने की कोशिश कर रहा हो, तो सबसे पहले इस राजनीति को पराजित करना और उखाड़ फैंकना जरूरी है। इसका अर्थ यह नहीं है कि मजदूर वर्ग अपनी तात्कालिक-आर्थिक मांगों के लिए लड़ना छोड़ दें। नहीं। इसका अर्थ यह है कि मजदूर अपनी तात्कालिक-आर्थिक मांगों के लिए और भी जोरदार और चौतरफा लड़ाई में उतरें। यहां "और भी जोरदार लड़ाई" का एक ही अर्थ है – मजदूर वर्ग पर आतंकी शासन थोपने वाले शासक वर्ग से अपनी मांगों के लिए लड़ने के साथ-साथ उसकी राजनीति एवं राजनीतिक ताकत के खिलाफ भी लड़ना, और उसे पराजित करने के उद्देश्य को अपनी लड़ाई में शामिल करना।

अंत में, हम आपसे यह कहना चाहते हैं कि मारूति-सुजुकी के अस्थाई मजदूरों के प्रदर्शन का जिस तरह से दमन किया गया, उसे जिस तरह गैर-कानूनी तरीके से रोका गया, और जिस तरह से उन्हें तय वार्ता भी नहीं करने दिया गया, वह कोई मामूली घटना नहीं है। इसमें भविष्य के लिए खतरनाक संकेत छुपे हैं। संकेत यही है कि मजदूरों को अपनी मांगों के लिए संघर्ष करने की इजाजत भी नहीं दी जाएगी। अगर यह आजादी भी छिन जाएगी तो फिर मजदूर तो बेआवाज ही बना दिए जाएंगे न! फिर तो मजदूर वर्ग को बर्बर युग का गुलाम ही बनना होगा न! लेकिन शासक वर्ग इसमें अंततः सफल नहीं हो पाएगा। और इसका कारण स्वयं मजदूर वर्ग है जिसके लाल झंडे पर इस तरह की सत्ताओं को उखाड़ फेंकने का इतिहास अंकित है। हम जानते हैं कि मजदूर वर्ग इससे डरेगा नहीं, इसका मुंहतोड़ जवाब देने के लिए कमर कसेगा। अगर मजदूर वर्ग जिंदा है, जो कि है, तो जल्द ही इसका उस संघर्ष से जवाब देगा जिसके लिए वह जाना जाता है - यानी शोषण-शासन की व्यवस्था की जगह शोषणविहीन राज्य कायम करने के संघर्ष से। आइए, मारूति-सुजुकी के अस्थाई मजदूरों के प्रदर्शन व सभा तथा वार्ता को रोकने की कार्रवाई का कड़ा प्रतिवाद करके अपने इरादे को स्पष्ट करें, और सरकार को बताने का काम करें कि इतिहास में उसका अंत लिखा है, और निश्चित ही आज न कल उसे इसके रंगमंच से हटा दिया जाएगा। मानव जाति पूंजी के शोषण के कलंक से मुक्त होगी। आइए, धर्म और जाति की दिवार तोड़ एकजुट हो!

मो. 8337021678, 7250235277, 9102126493, 7488983642
iftu@sarwahara.com www.sarwahara.com

क्रांतिकारी अभिवादन के साथ,

आईएफटीयू (सर्वहारा), पटना

कॉ. आकांक्षा, आई एफ टी यू (सर्वहारा), पटना सचिव द्वारा एनएमएसयू कार्यालय, पूर्वी लोहानीपुर, कदमकुआं, पटना-03 से प्रकाशित एवं ऐड वल्यर्स प्रेस, बंगाली अखाड़ा, डी एन दास लेन, लंगर टोली, पटना-04 से मुद्रित (11.2.25)

दिल्ली विधान सभा चुनाव 2025 के अवसर पर

केजरीवाल सरकार के मॉडल तथा इसके विरोध की राजनीति पर मजदूर वर्ग से चंद बातें और संवाद

साथियो!

आगामी 5 फरवरी 2025 को दिल्ली में विधान सभा चुनाव होने जा रहे हैं। केजरीवाल सरकार पर भाजपा का आरोप है कि वे जनता को "मुफ्तखोरी" सिखाते हैं क्योंकि वे मुफ्त बिजली, पानी, शिक्षा, इलाज, परिवहन, आदि की राजनीति करते हैं। आज से पहले, यानी पूंजीवादी राज्य जब तक कल्याणकारी राज्य का ढोंग करने के लिए किसी न किसी रूप में मजबूर था, पूंजीवादी सरकारें भी इन सेवाओं को बहुत कम कीमत पर, लगभग निशुल्क, उपलब्ध कराती थीं। उदाहरण के लिए, भारत में 1980 के दशक के मध्य तक सभी का इलाज सरकारी अस्पतालों में बहुत ही कम खर्च पर होता था और सरकारी विद्यालयों व कॉलेजों में ही सभी के बच्चे पढ़ते थे। लेकिन आज बड़ी पूंजी इन सेवाओं पर पूर्ण रूप से कब्जा कर इन्हें अकूत मुनाफे का क्षेत्र बना चुकी हैं। ऐसा इनका बड़े पैमाने पर निजीकरण करके किया गया जिसकी शुरूआत 1980 के दशक में हुई। परिणामस्वरूप आज ऐसी सारी सेवायें - शिक्षा, पानी, बिजली, स्वास्थ्य, परिवहन, आदि - बहुत महंगी हो गयी हैं और जनता का एक बड़ा हिस्सा इन जरूरी सेवाओं से वंचित होता जा रहा है। इसलिए जो लोग "मुफ्त" पानी, बिजली, शिक्षा, स्वास्थ्य, परिवहन, आदि की नीति का विरोध करते हैं वे पूंजीपति वर्ग, खासकर बड़े पूंजीपति वर्ग के हितों से प्रेरित हैं, इसमें संदेह नहीं होना चाहिए। इनका तर्क है कि सरकार का काम "मुफ्त की रेवड़ी" बांटना नहीं "विकास" कराना है, और इससे "विकास" के लिए सरकारी फंड नहीं बचेगा। "विकास" से लोगों को रोजगार प्राप्त होगा और वे इन सेवाओं को बाजार से खरीदने में सक्षम हो जाएंगे। लेकिन सच्चाई इसके उलट है। "विकास" हो रहा है लेकिन रोजगार खत्म हो रहे हैं। वे कहते हैं कि " विकास" का काम पूंजीपति को करना चाहिए सरकार को नहीं। सरकार को बस पूंजीपति वर्ग के लिए आधारभूत ढांचा तैयार करना चाहिए। इसका अर्थ क्या है? यही कि जनता के खून- पसीने की कमाई पूंजीपतियों के फायदे और विकास पर खर्च किया जाना चाहिए! वे बाजार को "स्वतंत्र" रूप से काम करने देने की बात भी करते हैं। यानी, वे जनता को बेरहम बाजार के हवाले करने की बात करते हैं। इसी सोच और नीति के परिणामस्वरूप महंगाई आसमान छू रही है। विकास के ये सारे तर्क पूंजी के पक्ष के और जनता व मजदूर विरोधी हैं। दूसरी तरफ, केजरीवाल हैं, जो जनता को कुछ सुविधा "मुफ्त" देने की बात करते हैं।

मजदूर वर्ग को भाजपा के उपरोक्त तर्क और उसकी साम्प्रदायिक राजनीति को तो सीधे तौर पर नकार देना चाहिए। दूसरी तरफ, केजरीवाल से हमें पूछना चाहिये कि वे अपने "मुफ्त" के मॉडल को अपने दस सालों के शासन में कहां तक आगे ले जा पाए हैं या सफल बना पाए हैं। हमें पता है, सफलता बहुत कम मिली है। जो मिली है वह बहुत सीमित है। सवाल है, क्यों? केजरीवाल मोदी सरकार द्वारा खड़े किये जा रहे तरह-तरह के अवरोधों (जैसे जीएसटी का पैसा राज्य सरकार को नहीं देना) को दोष देते हैं। यह असत्य नहीं है लेकिन मात्र अर्धसत्य है। असली कारण यह है कि जनता पर, या कहें सामाजिक आवश्यकताओं पर खर्च करने के लिए सरकार के पास पैसा नहीं है। यह नीतिगत और व्यवस्थागत बात है, क्योंकि पूंजीपतियों के लिए इस क्षेत्र को खोलना और उनके मुनाफे को बढ़ाना सरकारों का उद्देश्य है, जनता की सामाजिक जरूरतों को पूरा करना नहीं। इसलिये भाजपा चाहती है कि जनता को सार्वजनिक सुविधाओं के लिए बाजार पर निर्भर बनाया जाए। जनता पर खर्च बजट से बाहर हो जाता है। अगर कोई सरकार यह करना भी चाहे तो उसे कर्ज लेना पड़ता है। क्यों? क्योंकि विकास से पैदा

होने वाली आय और पैसा दोनों पूंजीपतियों के पास चले जाते हैं। उनकी मोटी होती कमाई में यह साफ-साफ दिखता है। इससे साफ है कि तमाम तरह की सार्वजनिक सेवाओं व सामाजिक आवश्यकताओं की अबाध रूप से "निशुल्क" पूर्ति के लिये जो चीज सबसे जरूरी है वह है- उत्पादन से पैदा होने वाले कुल अधिशेष और इस तरह कुल सामाजिक उत्पाद (जिसे मजदूरी पर हुए खर्च को छोड़ कर अभी पूंजीपति गटक जाते हैं) पर समाज का नियंत्रण कायम होना। जब तक ऐसा नहीं होगा, इन सार्वजनिक सेवाओं की बढ़ते पैमाने पर और अबाध पूर्ति असंभव है। आखिर जरूरी फंड उपलब्ध और कैसे होगा?

सवाल है, क्या केजरीवाल की राजनीति इस ओर लक्षित है? क्या वे जनता को इस ओर ले जाने की राजनीति करते हैं? नहीं, भूलकर भी नहीं। उनका "मुफ्त" का पूरा नैरेटिव जनता को पूंजीवाद की सीमा में बांधे रखने के लिये है, न कि इससे बाहर ले जाने के लिये। इस अर्थ में इनका "मुफ्त" का मॉडल एक तरह का राजनीतिक स्टंट ही हैं। हालांकि उनका यह स्टंट भी मोदी सरकार की खूली कॉर्पोरेटपक्षी नैरेटिव की तुलना में आकर्षक है। जरूरत इसकी सीमा को उजागर करने और ऐसा करते हुए एक पूंजीवाद विरोधी नैरेटिव बनाने की।

मजदूर साथियो! कल्पना कीजिए, मजदूर-मेहनतकश वर्ग समाज के ढांचे में ऐसा परिवर्तन कर दे जो श्रम के साधनों (फैक्ट्रियां, ज़मीन, खदान, आदि) को समाज की साझा संपत्ति में बदल दे और जिससे मजदूरों का श्रम पूंजीपतियों के मुनाफे में नहीं बदले। बल्कि पूरे समाज और उत्पादकों (श्रमिकों) की उन्नति में लगे। मतलब कुल सामाजिक उत्पाद पूंजीपतियों के स्वामित्व से निकलकर समाज के स्वामित्व में आ जाएगा। ऐसे में श्रम के उत्पाद के वितरण पर विचार करें, तो हम देखेंगे कि सार्वजनिक सेवाओं को मुहैया कराना मजदूर वर्ग के नेतृत्व वाले समाज की मुख्य और स्वाभाविक ज़िम्मेदारी होगी। एक ऐसे समाज में ही, जिसमें पूंजीपति वर्ग का शासन नहीं होगा और उत्पादन निजी मुनाफा के लिए नहीं लोगों के भौतिक व सांस्कृतिक विकास की जरूरतों को पूरा करने के लिए होगा, उसी समाज में श्रम द्वारा उत्पादित कुल सामाजिक उत्पाद का वितरण या बंटवारा सामाजिक जरूरतों और उत्पादकों व जनता को केंद्र में रखकर हो सकता है। यह किस तरह होगा? आइये, देखते हैं।

निजी मजदूरी/वेतन के रूप में उत्पादकों के बीच होने वाले बंटवारे से पहले, इसका बंटवारा सर्वप्रथम उत्पादन की आर्थिक जरूरतों के आधार पर किया जाएगा। जैसे कि, इस्तेमाल कर डाले गये उत्पादन साधनों को बदलने, उत्पादन का विस्तार करने तथा दुर्घटनाओं व प्राकृतिक आपदाओं से उत्पन्न पेरशानियों और बाधाओं के लिए रिजर्व फंड बनाने पर खर्च होगा। इसके बाद बचे सामाजिक उत्पाद में से सामाजिक जरूरतों (उत्पादकों की साझा जरूरतों) पर खर्च होगा। इन्हीं में शामिल है सार्वजनिक स्कूल, स्वास्थ्य, परिवहन, बिजली, सड़क, पानी, सफाई, पार्क, आदि और काम करने में असमर्थ लोगों की समुचित व्यवस्था करना शामिल है। उत्पादन व वितरण के प्रबंधन के अतिरिक्त इन सामाजिक मदों में खर्च लगातार बढ़ेगा और इससे जुड़ी सेवायें "निशुल्क" ही होंगी और इसे उस समाज में अलग से बताने की आवश्यकता नहीं होगी, क्योंकि इसकी पूर्ति का खर्च उसी कुल सामाजिक उत्पाद से आएगा जिसे पैदा करने में पूरे समाज का श्रम (कुल सामाजिक श्रम) लगा है। निजी व्यक्ति का श्रम कुल सामाजिक श्रम के इस कुंड का हिस्सा (aliquot part) होगा। इस अर्थ में निजी श्रम और सामाजिक श्रम का भेद खत्म हो जाएगा। साथ में यह भी देख सकते हैं कि एक तरफ उत्पादकों को, निजी व्यक्ति की हैसियत से, कुल सामाजिक उत्पादन के जिस एक भाग से वंचित किया जाता है वह समाज के एक सदस्य होने के नाते उन्हें सार्वजनिक सेवा व सुविधा के रूप में मिल जाता है। इस तरह निजी और सामूहिक हितों के टकराव का अंत हो जाता है जैसा कि पूंजीवाद में पाया जाता है।

यहां यह स्पष्ट हो जाना चाहिए कि शिक्षा, स्वास्थ्य, पानी, बिजली, परिवहन जैसी सार्वजनिक सेवाओं पर होने वाला खर्च, और कुछ नहीं, समाज के कुल सामाजिक श्रम के एक भाग का ही खर्च है। इसलिए मसला न तो "मुफ्त" का है और न ही "मुफ्तखोरी" का। वास्तव में मुफ्तखोरी उत्पादक मजदूर वर्ग कैसे करेगा? मुफ्तखोरी तो पूंजीपति वर्ग करता है जिसे खत्म करना मजदूर वर्ग के भावी राज्य का सर्वप्रमुख काम है। इसलिये मजदूर वर्ग के लिए मसला कुल सामाजिक उत्पाद पर से पूंजीपतियों के नियंत्रण को खत्म करने का है। और इस

चुनाव में इस मुद्दे पर हम मजदूर वर्ग का ध्यान इस ओर खींचना चाहते हैं, क्योंकि ऐसा करने के बाद ही सारी सामाजिक आवश्यकताओं व सेवाओं की पूर्ति सहजता से और साथ में प्रचुरता से भी हो सकेगी। साथ में यह भी कहना चाहते हैं कि सभ्यता के निर्माता मजदूर वर्ग की मौजूदा दयनीय स्थिति का कारण उसके श्रम की पूंजीपति वर्ग द्वारा लूट है। यहां केजरीवाल के नैरेटिव और उनकी राजनीति के बीच के फर्क को समझना चाहिये। उनका गोलमोल नैरेटिव कहता है कि "सब कुछ जनता का है", जबकि उनकी राजनीति पूंजीपति वर्ग की लूट पर और मजदूर वर्ग की खराब स्थिति के कारणों पर पर्दा डालने का काम करती है। इसका भंडाफोड़ जरूरी है। दिल्ली की गरीब जनता को हम स्पष्टता से कहना चाहते हैं कि सार्वजनिक सेवाओं की उत्रोत्तर वृद्धि और इसका अबाध रूप से ("निशुल्क") जारी रहना एकमात्र इस बात पर निर्भर करता है कि धन के तमाम स्रोतों पर से पूंजीपति वर्ग का नियंत्रण खत्म हो और पूंजीवादी व्यवस्था का अंत हो। मजदूर वर्ग को यह कभी नहीं भूलना चाहिए कि पूंजीवाद के रहते मजदूर वर्ग की जिंदगी कभी भी सुख से नहीं कट सकती है।

आज तो इतिहास की दिशा ही पूरी तरह से उलट दी गई है। मजदूर वर्ग ने जो भी अधिकार हासिल किये थे उन्हें भी मोदी सरकार एवं अन्य सरकारों द्वारा पूरी निर्ममता से छीना जा रहा है। दूसरी तरफ, उनका वोट पाने के लिए सभी पार्टियां कुछ न कुछ "मुफ्त" देने की बात करती हैं। हम इसे केजरीवाल की नकल भी कह सकते हैं जो उनकी मजबूरी बन गई है। लेकिन समझने वाली बात यह है कि बड़ी पूंजी को इतना भी मंजूर नहीं है। इसलिए वह इस कोशिश में लगी है कि वोट से सरकार बनाने की व्यवस्था को ही खत्म कर दिया जाए। इसके लिए ही हिंदू-राष्ट्र बनाने का नारा दिया जा रहा है जिसकी सफलता के बाद उनका यह उद्देश्य भी पूरा हो जाएगा। इसलिए केजरीवाल से जनता को यह पूछना चाहिए कि क्या वे भी हिन्दू-राष्ट्र के समर्थक हैं? आज जब केजरीवाल वोट बैंक बढ़ाने के लिए जनता को कई तरह की "मुफ्त" सुविधायें देने का नैरेटिव चला रहे हैं, तो यह जनपक्षीय दिखता है। जब वे कहते हैं कि "हम जनता का पैसा जनता को दे रहे हैं जबकि मोदी सरकार जनता का पैसा कॉर्पोरेट को दे रही है" तो यह एक हद तक बड़ी पूंजी के मानवद्रोही उद्देश्यों के खिलाफ जाता है। राष्ट्रीय स्तर पर मजदूर वर्गीय विमर्श के अभाव में इसकी एक सीमा तक अहमियत भी है। खासकर तब जब मोदी की सरकार कॉर्पोरेट के पक्ष में खड़ी हैं। लेकिन अगर केजरीवाल हिन्दू-राष्ट्र के छुपे समर्थक हैं, तो गरीब जनता के साथ एक बड़ा छलावा है। इसलिए उनके "मुफ्त के मॉडल" की सीमा को ही नही उनकी राजनीति के मर्म तथा संभावित परिणाम को भी आंखों से ओझल होने नहीं देना चाहिये।

मतलब साफ है, हमें जनता के समक्ष इस तथाकथित "मुफ्त" के मॉडल की सीमा को उजागर करना चाहिए और साथ में यह भी कहने की जरूरत है कि यह सीमा टूटेगी कैसे, जैसा कि ऊपर बताया गया है। वहीं, मोदी की "विकास की राजनीति" के झांसे में नहीं पड़ना चाहिए। आज तक जो "विकास" हुआ है और आज जो "विकास" हो रहा है वह जनता तक कितना पहुंचा है इसकी सच्चाई हम सभी जानते हैं। जहां तक मजदूर वर्ग का विकास है वह पूंजीवाद में संभव ही नहीं है। इसके लिए सर्वप्रथम पूर्ण सामाजीकरण जरूरी है। इसलिए हमें कांग्रेस के "शीला दीक्षित की विकसित दिल्ली" के नैरेटिव के झांसे में भी नहीं आना चाहिए। पूंजीवाद में होने वाले विकास का अत्यंत छोटा फायदा ही जनता को मिलता है, चाहे जिसकी भी सरकार रही हो। आज जो भी विकास हो रहा है कॉर्पोरेट (बड़ी पूंजी) के लिए हो रहा है।

साथियो! आइए "मुफ्त" के नाम पर और "मुफ्त" के विरोध के नाम पर देश में छिड़ी राजनीति के बरक्स हम अपना मजदूर वर्गीय नजरिया लोगों तक ले जाएं। हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि आम जनता के लिए सार्वजनिक सेवाओं की मुकम्मल और अबाध पूर्ति पूंजीवाद को उखाड़ फेंक कर ही की जा सकती है। न केजरीवाल, और न ही मोदी और राहुल गांधी ही इस दिशा में कुछ ठोस करेंगे। इन सबकी राजनीति मूलतः इसके विपरीत है। दिल्ली चुनाव के अवसर पर हमारा यही संदेश है।

क्रांतिकारी अभिवादन के साथ

आईएफटीयू (सर्वहारा) | सर्वहारा जनमोर्चा

कॉ. सिद्धांत द्वारा मायापुरी फेज-2, दिल्ली-64 से प्रकाशित और रमेश प्रिंटर्स द्वारा मुद्रित। दिनांक – 21.01.2025

पृष्ठ 60 से जारी रिपोर्ट (सुनील पाल की 15वीं शहादत वर्षगांठ...)

हिंदी और बंग्ला में क्रांतिकारी गीत - "लाल लाल झंडा है" और "एमोन देशे जनम मोदेर" प्रस्तुत किए गए।

सभी वक्ताओं ने कॉमरेड सुनील पाल को क्रांतिकारी श्रद्धांजलि दी और पूरे ईसीएल कोयलांचल क्षेत्र में उनके नेतृत्व में किए गए मजदूरों के बहादुराना संघर्षों को याद किया, जिसके कारण अंततः तत्कालीन सीपीएम राज्य सरकार के किराए के गुंडों द्वारा शासक वर्ग के हितों की सेवा करते हुए आईएफटीयू के यूनियन कार्यालय में उनकी हत्या कर दी गई थी। वक्ताओं ने व्यापक जनता पर बढ़ते पूंजीपरस्त हमले और पिछले एक दशक से फासीवादी ताकतों द्वारा राजसत्ता और संस्थानों पर कब्जा व उनका टेकओवर करने के बाद देश और बंगाल में बढ़ते विभाजनकारी और जहरीले फासीवादी आंदोलन, फासीवाद को हराने में बुर्जुआ विपक्षी दलों की अक्षमता और अंततः फासीवाद के साथ-साथ पूंजीवाद को हराने के लिए एक व्यापक जन आंदोलन और एक क्रांतिकारी सर्वहारा-वर्गीय हरावल की आवश्यकता पर प्रकाश डाला।

पीआरसी और आईएफटीयू (सर्वहारा) के साथियों ने मजदूर वर्ग और उसकी ताकतों के लिए फासीवाद के खिलाफ निर्णायक लड़ाई में अग्रणी भूमिका निभाने के लिए खुद को तैयार करने की तत्काल आवश्यकता पर प्रकाश डाला, जिसे अंततः व्यापक जनता द्वारा सड़कों से संसद तक लड़ा जाएगा, और जनतंत्र की निर्णायक लड़ाई जीतकर एक क्रांतिकारी सरकार का गठन करने, जो बड़ी पूंजी के प्रभाव से स्वतंत्र होगी ताकि फासीवाद को निर्णायक रूप से हराया जा सके और मजदूर वर्ग के ऐतिहासिक मिशन यानी समाजवाद-साम्यवाद को साकार करने की दिशा में आगे बढ़ा जा सके, पर जोर दिया। सभी वक्ताओं ने इस बात पर प्रकाश डाला कि सुनील पाल जैसे निडर और अडिग मजदूर नेता को याद करने का इससे बेहतर तरीका नहीं हो सकता कि शोषण और वर्गों से मुक्त एक नई दुनिया के निर्माण के हमारे साझा सपने को साकार करने के लिए हम और भी अधिक जोश के साथ काम करना जारी रखें।

30 दिसंबर 2024, आसनसोल, प. बंगाल :

क्रांतिकारी मजदूर नेता कॉमरेड सुनील पाल की 15वीं शहादत वर्षगांठ के अवसर पर पीआरसी, सीपीआई (एमएल) और आईएफटीयू (सर्वहारा) द्वारा पश्चिम बंगाल के पश्चिम बर्धमान जिले के आसनसोल बार एसोसिएशन हॉल में 30 दिसंबर 2024 को "फासीवादी दौर में महिलाओं पर बढ़ता उत्पीड़न और महिला मुक्ति का प्रश्न" विषय पर एक कन्वेंशन का आयोजन किया गया।

इसमें क्रांतिकारी कार्यकर्ताओं, ट्रेड यूनियन नेताओं, बुद्धिजीवियों और मजदूरों के साथ-साथ 16 क्रांतिकारी संगठनों के प्रतिनिधियों सहित 100 से अधिक प्रतिनिधियों ने भाग लिया। इनमें सीपीआई (एमएल), सीपीआई (एमएल) रेड स्टार, सीपीआई (एमएल) न्यू डेमोक्रेसी, सीपीआई (एमएल) मास लाइन, सर्वहारा जनमोर्चा, इंकलाबी मजदूर केंद्र, लाल झंडा मजदूर यूनियन (समन्वय समिति), चिंतन पत्रिका, मंथन पत्रिका, ऑल इंडिया वर्किंग विमेंस लीग, श्रम मुक्ति संगठन, कम्युनिस्ट चेतना केंद्र, मजदूर सहायता समिति, श्रमिक संग्राम कमिटी, ईसीएल ठेका श्रमिक अधिकार यूनियन, आसनसोल सिविल राइट्स एसोसिएशन, खान मजदूर कर्मचारी

29 दिसंबर को हरिपुर में शहीद रैली

यूनियन शामिल थे। कुल 12 वक्ताओं ने इस विषय पर अपने विचार प्रस्तुत किए।

कार्यक्रम की शुरुआत कॉमरेड कंचन के स्वागत भाषण और सभी क्रांतिकारी शहीदों की याद में एक मिनट का मौन रखने से हुई, उसके बाद अरुणोदय सांस्कृतिक टीम द्वारा बांग्ला में शहीद गीत "अमरा केमोन कोरे भूली गो" प्रस्तुत किया गया। इसके बाद पीआरसी और आईएफटीयू (स) के कॉमरेड अजय सिन्हा, कन्हाई बरनवाल, आकांक्षा, विदुषी और कंचन ने प्रेसीडियम में अपनी जगह ली।

चर्चा की शुरुआत कॉमरेड अजय सिन्हा (महासचिव, पीआरसी सीपीआई एमएल) द्वारा विषय पर आधार पत्र प्रस्तुत करने से हुई। पत्र में

30 दिसंबर को आसनसोल में सम्मेलन

पितृसत्ता और फासीवाद के अंतर्संबंध पर चर्चा की गई है, जिन दोनों की जड़ें पूंजीवाद-साम्राज्यवाद की वर्तमान शोषणकारी सामाजिक-आर्थिक व्यवस्था में निहित हैं, जिसमें फासीवाद और कुछ नहीं बल्कि उसके वर्ग शासन का नग्न रूप है जो वित्तीय पूंजी के सबसे घटिया तत्वों के हितों की सेवा करता है। आधार पत्र पूंजीवाद के अनुत्क्रम्नीय संकट और पतन के दौर में महिलाओं पर बढ़ते अत्याचारों पर जोर देता है, जिसने एक तरफ घृणित विभाजनकारी फासीवादी आंदोलन को प्रायोजित करके और दूसरी तरफ महिला कामुकता के वस्तुकरण और शोषण के माध्यम से महिला शरीर को निशाना बनाकर समाज के सर्वांगीण नैतिक-वैचारिक-सांस्कृतिक पतन को बढ़ावा दिया है। नाजी जर्मनी और फासीवादी इटली जैसे ऐतिहासिक उदाहरणों का हवाला देते हुए पत्र इस बात पर प्रकाश डालता है कि कैसे फासीवादी विचारधाराएं पितृसत्तात्मक संरचनाओं को मजबूत करती हैं, महिलाओं को घरेलू भूमिकाओं तक सीमित कर देती हैं और साथ ही उन्हें नस्लीय शुद्धता और (भारत में) जातीय विभेदों को सुदृढ़ करने के 'राष्ट्रवादी' लक्ष्यों के लिए बच्चे पैदा करने और उन्हें पालने की मशीन के रूप में उपयोग करती हैं।

आधार पत्र फ्रेडरिक एंगेल्स और ऑगस्ट बेबेल के अध्ययनों के माध्यम से इतिहास में महिलाओं की अधीनता पर प्रकाश डालता है, जो उत्पादन पद्धति और सामाजिक जीवन में अपरिहार्य परिवर्तन के परिणामस्वरूप मातृ-अधिकार के उखाड़ फेंके जाने के बाद निजी संपत्ति और पितृसत्तात्मक पारिवारिक संरचना के उद्भव का नतीजा था। इसके माध्यम से, यह तर्क पेश किया गया है कि महिलाओं की मुक्ति निजी संपत्ति (और इसलिए, पूंजीवाद) के उन्मूलन और समाजवाद की स्थापना से अविभाज्य है। पत्र महिलाओं की मुक्ति के नारीवादी दृष्टिकोण की भी आलोचना करता है, जो एक बुर्जुआ विचारधारा होने के कारण निजी संपत्ति को चुनौती नहीं देता है और इसलिए, मुक्ति के लक्ष्य को प्राप्त करने में असमर्थ है। यह पत्र एक तरफ जघन्य बलात्कारों (आरजी कर, निर्भया आदि) के खिलाफ चल रहे और हाल ही में बीते आंदोलनों की सीमाओं को भी उजागर करता है, जो पितृसत्ता और फासीवाद को बनाए रखने वाले सामाजिक-आर्थिक संरचनाओं को अपना निशाना नहीं बनाते और केवल चंद कानूनी सुधारों तक खुद को सीमित कर लेते हैं; वहीं दूसरी तरफ वो इन आंदोलनों को पूंजीवाद और उसके साथ पितृसत्ता और फासीवाद को उखाड़ फेंकने की लड़ाई के साथ जुड़े महिला मुक्ति के क्रांतिकारी मार्ग को अपनाने का आह्वान करता है।

मजदूर वर्ग के दो अगुआ कार्यकर्ताओं - उमेश कुमार निराला (निर्माण मजदूर) और राजू (फैक्ट्री मजदूर) – ने महिलाओं की अधीनता के खिलाफ एक प्रगतिशील जन गीत "मुंह सी के अब जी ना पाऊंगी" और कॉमरेड सुनील पाल की शहादत पर "पापी दुश्मनवा लिहल सुनील पाल के जनवा" प्रस्तुत किया। सभी वक्ताओं ने आधार पत्र पर अपने विचार प्रस्तुत किये और अंत में कॉमरेड अजय सिन्हा द्वारा समापन भाषण प्रस्तुत किया गया। सम्मेलन का अंत "इंकलाब जिंदाबाद, पूंजीवाद-साम्राज्यवाद-फासीवाद मुर्दाबाद, पितृसत्ता-जातिवाद मुर्दाबाद, क्रांतिकारी शहीदों को लाल सलाम!" के जोरदार नारों के साथ हुआ। इसके बाद "इंटरनेशनेल" का उर्दू गायन के साथ सम्मेलन समाप्त किया गया।

विस्तृत रिपोर्ट के लिए *आईएफटीयू (सर्वहारा)* का फेसबुक पेज देखें : fb.com/sarwaharaiftu ☐

शहीद कॉमरेड सुनील पाल की 15वीं शहादत वर्षगांठ पर शहीद रैली व जन सभा और केंद्रीय कन्वेंशन

■ आईएफटीयू (सर्वहारा)

29 दिसंबर को हरिपुर में शहीद सभा

29 दिसंबर 2024, हरिपुर, प. बंगाल :

मजदूर वर्ग के क्रांतिकारी नेता कॉमरेड सुनील पाल की 15वीं शहादत वर्षगांठ पर पीआरसी सीपीआई (एमएल) और आईएफटीयू (सर्वहारा) ने संयुक्त रूप से पश्चिम बंगाल के पश्चिम बर्धमान जिले के हरिपुर इलाके में 29 दिसंबर को एक शहीद रैली और जन सभा का आयोजन किया। यह वही जगह है जहां डेढ़ दशक पहले कॉमरेड पाल की हत्या की गई थी। यह रैली मजदूर वर्ग की मुक्ति के संघर्ष में अपने प्राणों की आहुति देने वाले सभी क्रांतिकारी शहीदों की याद में आयोजित की गई थी। केन्दा पुलिस चौकी मैदान से शुरू हुई इस रैली में विभिन्न राज्यों से सैकड़ों लोग शामिल हुए, जिनमें मजदूर, छात्र, बच्चे, महिलाएं और क्रांतिकारी कार्यकर्ता शामिल थे। रैली का समापन हरिपुर में एक जन सभा के रूप में हुआ।

कॉमरेड कन्हाई बरनवाल द्वारा संचालित इस जन सभा को निम्नलिखित वक्ताओं ने संबोधित किया: अजय सिन्हा (महासचिव, पीआरसी सीपीआई एमएल), संजीत अधिकारी (पीआरसी बंगाल), राधे (पीआरसी बिहार), सिद्धांत (पीआरसी दिल्ली), साथ ही बिरादराना संगठनों के प्रतिनिधियों में से कॉमरेड मुकेश असीम (सर्वहारा जनमोर्चा), श्यामवीर (इंकलाबी मजदूर केंद्र), अवाश मुंशी (मजदूर क्रांति परिषद), अशोक बैठा (सीपीआई एमएल), शंकर (सीपीआई एमएल रेड स्टार), भोलानाथ सीट (सीपीआई एमएल मास लाइन), कीर्तन कटाल (सीपीआई एमएल न्यू डेमोक्रेसी), सोमेंदु गांगुली (लाल झंडा मजदूर यूनियन समन्वय समिति), आरपी सिंह (मंथन पत्रिका), सागर (सीसीएसएस), भारत (मजदूर सहायता समिति), अरुण मुखर्जी (सीपीआई एमएल)। बैठक में पीसीसी सीपीआई एमएल, ईसीएल ठेका श्रमिक अधिकार यूनियन, खान मजदूर कर्मचारी यूनियन और एनटीयूआई के साथी भी मौजूद थे। पश्चिम बंगाल की सांस्कृतिक टीम 'अरुणोदय' द्वारा

(पृष्ठ 58 पर जारी)

RNI Reference No. - 1381768
पृष्ठ संख्या - 60
मजदूर वर्ग के क्रांतिकारी विचारों व स्वरों का मंच
यथार्थ
प्रकाशन तिथि - 15 मार्च 2025
पोस्टेज तिथि - 18 मार्च 2025